कवि-परिचय

जन्म—स्थान : भीलवाड़ा (मेवाड़)

जन्म—तिथि : आषाढ़ वदि १०, संवत् १९७६

साधारण स्थिति के एक प्रतिष्ठित खंडेलवाल (वैश्य) परिवार में जन्म हुआ। माता-पिता बड़े सरल स्वभाव के, श्रद्धालु तथा धर्म-प्रिय व्यक्ति थे। आरम्भिक शिक्षा गाँव के मिडिल स्कूल में ही हुई। तत्पश्चात् नन्दलाल भंडारी हाईस्कूल, इन्दौर (मेट्रिक तक सन्, १९३७), बिड़ला कॉलिज, पिलानी (इंटर तक, १९३९) तथा बनारस हिन्दू यूनिवर्सिटी में (बी० ए० तथा एम० ए०) अध्ययन किया। सन् ४३ को एम० ए० (हिन्दी भाषा तथा साहित्य) की परीक्षा में आप प्रथम श्रेणी में प्रथम रहकर उत्तीर्ण हुए। समस्त विद्यार्थी जीवन में अध्यापक आप से बहुत प्रभावित रहे। कवि रूप में बचपन से ही बहुत प्रसिद्धि रही। जब आप १५ वर्ष के लगभग के थे तभी माता-पिता का थोड़े-थोड़े अन्तर से स्वर्गवास हो गया।

पहली कविता ११ वर्ष की अवस्था में लिखी गई। छात्रालय के सुपरिण्टेण्डेंट कवि थे अतः और अधिक प्रेरणा मिली। आगे चलकर प्रसिद्ध साहित्यकार पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी के सम्पर्क में आये और कविता जीवन का अभिन्न अंग बन गई। विन्ध्याचल की गोद में किशोरावस्था तथा पुण्यसलिला गंगा के हरे भरे प्रदेश में यौवनोदय काल बिताने से गम्भीर प्रकृति-प्रेम तथा अन्तर्मुखता का जन्म और विकास हुआ। सन् ४४ में मद्रास में पहली बार के समुद्र-दर्शन से कवि की कल्पना विशेष रूप से बलवत्तर और प्रौढ़ हुई।

इस समय आप मेरठ कॉलिज मेरठ के हिन्दी-विभाग में प्राध्यापक हैं साथ ही डॉक्ट्रेट की उपाधि के लिये विशेष अध्ययन भी कर रहे हैं। गद्य भ घापनों प्रयप्ति लिखा है जो शीघ्र ही प्रकाश में आयगा। अन्य काव्य-रचना भी शीघ्र निकलेंगी।

आप एक अध्ययन शील, सरल-हृदय और आशावान् युवक हैं। 'प्रथ किरण' में इनकी प्रतिभा देखिए।

(विशेष परिचय सम्मतियों में)

—प्रकाशक

मुद्रक—परेश घोष, सरला प्रेस, बाँसफाटक, बनारस।

अत्यन्त प्यार की

मेरी यह

पहली कृति

स्वर्गीया दयामयी जननी

और

स्वर्गीय पूज्य पिताजी

की

पुण्य स्मृति में

आशीर्वाद

चि० रामेश्वर की रचनाएं मैंने पढ़ीं। उनका संग्रह प्रेस में छप रहा है। ये पंक्तियां मेरा पक्षपात हैं क्योंकि चि० रामेश्वर को बचपन मे धूलिकणों से उठ कर, बढ़ते मैंने देखा है, और अंगुली पकड़ कर चलाया है। उनके काव्य में मुझे सरलता, सुषमा और आस्तिकता के मधुकण दिखाई देते हैं। कवि जब अपनी सरल सांसों तक गीतों की मधुरिमा का अनुभव करने लगता है तब उसे अपने अभिमत के प्रति किए गए वाणी के प्रत्येक आरोप में काव्य का वाद आने लगता है और कुछ झिझक से, कुछ आनन्द से और कुछ समर्पण वह अनुभव कर उठता है कि मानों काव्य की बेचैनी के रूप में अपनी प्रतिभा के गरीबखाने में बैठ कर वह आत्मप्रकटीकरण का अपराध किए बिना न रह सकेगा। जब रामेश्वर लिखते हैं—

फूट गई ऊषा की लाली !
लो प्राची में छलक पड़ी है नव माणिक मदिरा की प्याली,
फूट गई ऊषा की लाली !

तब उनका स्वर और उनके प्राण का स्वरूप दोनों मोहक हो उठते हैं। सौन्दर्य्य की मदिरा की शाश्वतता के रामेश्वर इतने विश्वासी हैं कि वे ऊषा को लक्ष्य कर कहते हैं—

युग-युग से यह नित आती है,
कितना मधु ढुलका जाती है,
फिर भी इसके रस का सागर हुआ नहीं है अब तक खाली !
फूट गई ऊषा की लाली !

और उनके गीतों की परिसमाप्ति परम आस्तिक्य में होती है—

जिसने स्वर्ण-विहान किया है,
एक और दिन दान दिया है,
निखिल चराचर का वह स्वामी है रे कितना वैभवशाली !
फूट गई ऊषा की लाली !

इस देश की जल-वायु उसका इतिहास, उसकी पूजा, और उसकी वन्दना

से रामेश्वर का हृदय भरा हुआ है। मुझे विश्वास है कि वे अपनी प्रथम रचना में अन्तिम सुख का अनुभव न कर इसे आराध्य के मन्दिर पर चढ़ने की प्रथम सीढ़ी मानेंगे और उस घर तक पहुंचने का यत्न करेंगे जिस घर के द्वार अनुराग भरे हृदय से भी परम विराग में खुलते हैं और सूझों के अपरिमित अभ्यास के बाद ही करुणा के स्वर्ण-कणों के दर्शन हो पाते हैं। कवि का प्रभात तो तब नहीं होता जब सूरज उगता है, वह तो तब होता है जब उसका अभिमत उसे सूझ पड़ता है। मैं इच्छा करता हूं कि रामेश्वर अपनी सूझ, अपनी कृति और अपने जीवन में सफल होंगे।

माखनलाल चतुर्वेदी

दिसम्बर,' ११-१२-४८



निवेदन

'प्रथम किरण' में मेरी कुछ चुनी हुई कविताएं सङ्कलित हैं। इनके सम्वन्ध में मैं क्या कहूं! केवल इतना ही कह सकता हूं कि इनमें मेरे हृदय का सर्वस्व है। सृष्टि की डाल पर खिलते मेरे जीवन-पुष्प में जो कुछ रूप-रंग आया है और मधु के कण उपजे हैं वे सब इनमें सुरक्षित है। अपनी अनुभूति को वाणी देने का मैंने प्रयत्न किया है और मुझे इससे सुख मिला है। यह अनुभूति कैसी है और उसकी अभिव्यक्ति सफल हुई या नहीं इसका निर्णय तो काव्यानरागी प्रेमी पाठक ही कर सकेंगे।

'प्रथम किरण' को आपके हाथों में प्रस्तुत करने में मुझे जितने हर्ष का अनुभव हो रहा है संकोच भी उससे कुछ कम नहीं। ये मेरे वाल प्रयत्न हैं। सिन्धु-तट पर वैठ कर अपनी कल्पना के अनुकूल मैंने ये रेत के घरौंदे वनाए हैं—जानते हुए भी कि गरजती हुई लहरों के पेट मे ये समा जायेंगे! पर निर्माण में ही मनुष्य अमर है। भावी प्रलय की चिन्तामात्र से सृजन का सुख मानव कैसे छोड़े! नाश और मरण की लीला-भूमि इस मर्त्यलोक में भी मनुष्य मधुर गीत गा सका और सौन्दर्य्य की सृष्टि कर सका यही तो नश्वर मानव की महान विजय है। यदि वह ऐसा न कर सकता तो पीड़ा, क्रन्दन, अशांति और ज्वाला के इस मरुस्थल में वह रहता ही क्यों और जीता ही कैसे! 'प्रथम किरण' में जगत् के अन्धकार से संघर्ष कर प्रकाश पाने का प्रयत्न है। यदि पाठकों के हृदयों में इस किरण का कुछ मधुर आलोक फैल सका तो मुझे वहुत सन्तोप होगा।

अपनी काव्य-यात्रा के वीच मुझे यह अनुभव हुआ है कि सच्ची काव्य-साधना प्रकाश पूर्ण, दिव्य, उच्चगामी, निर्मल और पौरुपवान् जीवन की ओर ले जाने में पूर्ण समर्थ है। यदि मैं अपने पथ पर आगे चल कर कभी ऐसे जीवन का दर्शन कर सका और अपनी आन्तरिक सौन्दर्य्य-सृष्टि को वाहर व्यक्त कर सका तो मैं अपने काव्य-जीवन की सफलता समझूंगा।

चुप रह कर जीवन के रस और सौन्दर्य्य का पान करना ही मुझे तो भाता है किन्तु मेरे स्नेहियों का वहुत आग्रह था कि कविताएं प्रकाशित हों। मुझे मानना पड़ा और पुस्तक प्रस्तुत है। यह वहुत विपम परिस्थितियों में

निकल रही है अतः अशुद्धियों का कहीं कहीं पर रह जाना स्वाभाविक है। त्रुटियों के लिए क्षमा-प्रार्थी हूं। पाठक कृपया सुधार कर पढ़ें।

इसके प्रकाशक भाई श्री देवेन्द्रचन्द्रजी विद्याभास्कर हार्दिक बधाई के पात्र हैं जिन्होंने रुग्ण-शय्या पर लेटे लेटे भी पुस्तक को सुन्दर बनाने की पूर्ण चेष्टा की है।

अन्त में मैं अपने श्रद्धेय पूज्य पं० माखनलाल जी चतुर्वेदी का अन्तरतम से अनुगृहीत हूं जिन्होंने इस पुस्तक पर अपने आशीर्वाद के शब्द लिख देने की अतीव कृपा की। मैं तो उनका अपना ही हूं। उनको धन्यवाद कैसा!

हिन्दी विभाग,
मेरठ कॉलिज, मेरठ
४-१२-४८

'तरुण'

क्रम-संख्या



राष्ट्र गीत

महिमामय है देश हमारा।
प्रथम सभ्यता का उन्नायक युग-युग की महिमा से मण्डित,
शुद्ध ज्ञान का आदि-स्रोत यह महादेश प्राचीन अखण्डित,
भव्य आर्य-संस्कृति का स्वामी सृष्टि-मुकुट, जन-मन का प्यारा।
महिमामय है देश हमारा।
ब्रह्म-ज्ञान की ज्योति मनोहर फूटी सब से प्रथम यहीं पर,
अमर चिरन्तन आदर्शों का पालन है नित हुआ यहीं पर,
यहीं आर्य-ऋषि-कम्बु-कंठ से साम-गान की फूटी धारा।
महिमामय है देश हमारा।
उषा छिड़क प्रातः नित चन्दन करती है इसका अभिनन्दन,
स्निग्ध पवन में खोल मुक्त पट पुलकाकुल करते खग गुञ्जन,
गद्गद् हो धोता है इसके पुण्य चरण सागर नित खारा।
महिमामय है देश हमारा।
ले वीणा गाती सरस्वती इस भारत की अमर भारती,
सूर्य, चन्द्रमा नित्य उतारा करते इसकी पुण्य आरती,
शंखनाद कर सिन्धु-तरङ्गे गुञ्जित कर देती नभ सारा।
महिमामय है देश हमारा।
कलकल स्वर से उमड़ उमड़ कर सरिताएँ सब प्रेम बहातीं,
स्वर्ण-भूमि पर सुधा बरसता, भू-रस के मोती उपजातीं,
सब को सदा लुभाता इसका हरियाली से लदा किनारा।
महिमामय है देश हमारा।

यह सपनों का देश मनोरम रस-लोलुप मधुपों का शतदल,
प्राणिमात्र की गोद मधुर यह मुक्त प्रकृति का है क्रीड़ास्थल,
इसकी बुद्धि, विराट हिमालय, और हृदय, गंगा की धारा।
महिमामय है देश हमारा।

मनुज-सृष्टि के अन्धकारमय, दीर्घ, कंटकित यात्रा-पथ पर,
निज दृढ़ कर में धर्म-ज्योति की ले मशाल, विश्वास-चरण धर,
युग-युग से हरता आया यह भ्रान्त जगत् का सब अँधियारा।
महिमामय है देश हमारा।

दे प्रकाश का दान हमीं ने सारे जग को सभ्य बनाया,
धर्म शिल्प, साहित्य, कलाओं का सब को ही ज्ञान कराया,
कितना भव्य और स्वर्णिल है चिर अतीत इतिहास हमारा।
महिमामय है देश हमारा।

साक्षी है इतिहास सदा ही हमने सब को गले लगाया,
कर सबकी कल्याण-कामना, विश्व-प्रेम हमने दर्शाया,
गूँज रहा है बुद्धदेव का अजर-अमर संदेश हमारा।
महिमामय है देश हमारा।

'सुख से जिओ और जीने दो' यह उदार भावना यही है,
यहाँ आत्म-बल पूज्य, किसी का पशुबल में विश्वास नहीं है,
तलवारों से नहीं, जगत् पर पाई विजय प्रेम के द्वारा।
महिमामय है देश हमारा।

उच्च कोटि की मानवता का जलता पुण्य-प्रदीप यहीं है,
धर्मभूमि यह, ज्ञानभूमि यह, क्या ऐसी भू और कहीं है?
तीस कोटि कंठों से इसकी जय का उठो लगावें नारा।
महिमामय है देश हमारा।

अमरोहा

वन्दना

ज्योतिर्मय हे !
अन्धकार से हमें ले चलो
नव प्रकाश-पथ पर हे ईश्वर !
कलुषित मन शुचि ज्ञान-ज्योति से
करो प्रकाशित, हे अजरामर !
अमर सत्य की अन्धकार पर
हमें दिखाओ पूर्ण विजय, हे !
ज्योतिर्मय हे !

हमें आत्म-बल दो, वसुधा पर—
जियें, मृत्यु से हो हम निर्भय,
सृष्टि-कमल से करें हृदय में
हम प्रकाश का, मधु का संचय,
आत्मामृत का पान करें हम
जड़ता के तम का हो क्षय, हे !
ज्योतिर्मय हे !

पाप-ताप से झुलस रहे हैं
हम प्राणी निरुपाय निरन्तर,
प्रभु, त्रिताप की शांति करो—
निज करुणा-कादम्बिनि बरसा कर,
अश्रु-पूर्ण दृग से करते हम
सभी प्रार्थना यह सविनय, हे !
ज्योतिर्मय हे !

जीर्ण पत्र सब झड़े हृदय के
कटें विकट माया के बन्धन,
नई कल्पना, नये भाव के
रूप-रंग से स्वस्थ रहे मन,
अर्पित है तेरे चरणों पर
यह जीवन-शतदल मधुमय, हे !
ज्योतिर्मय हे !

मंगलमय उच्चादर्शों में
रहे अटल विश्वास हमारा,
देव ! तुम्हारी सृष्टि मनोहर
बने नहीं मानव की कारा !
नष्ट भ्रष्ट हों जीवन के सब
निष्ठुर छल, भय, भ्रम, संशय, हे !
ज्योतिर्मय हे !

हमें प्रेरणा दो प्रभु ऐसी
प्रेम बढ़े मानव-मानव में,
नृत्य गान कर मोद मनावें
हम जीवन के कुसुमोत्सव में
सृष्टि सफल हो, हम कर पावें
हृदयों का निश्छल विनिमय, हे !
ज्योतिर्मय हे !

जगन्नियन्ता, हे जगदीश्वर,
कर्णधार, मानव-जीवन के !
सृष्टि-यन्त्र के हे सञ्चालक,
आदि नियामक जन्म-मरण के
मर्त्यलोक के हम निर्बल जन
तव आश्रित, दो हमें अभय, हे !
ज्योतिर्मय हे !

अमरोहा
१२-१०-४७



मेरा अस्तित्व

मै चिर प्रकाश की अमर किरण !
मैं आदि स्रोत हूँ जीवन का मै नहीं जानता जन्म-मरण
' मैं चिर प्रकाश की अमर किरण !

मैं अमर तूलि की अमिट रेख
हूँ मैं अनादि अन्त-हीन,
ऊषा मुख से अनुरंजित है
मै चिर सुन्दर, रे चिर नवीन !
मैं अखिल जगत् का आकर्षण !
मैं चिर-प्रकाश की अमर किरण !

फूलो में मेरे छिपे हास
निर्झर में मेरे मधुर गान !
मैने ही तो है किया नील-
नभ में तारों का दीप - दान
करता प्रकाश का मैं वितरण !
मैं चिर-प्रकाश की अमर किरण !

सागर की चञ्चल लहरों पर
तिरते है मेरे तरल गीत
मैं ही भावी का स्वप्न मधुर
मै वर्त्तमान, मै ही अतीत !
मैं लघु, विराट, मैं युग, मैं क्षण !
मै चिर-प्रकाश की अमर किरण !

जब करुण विश्व-वीणा पर मै
तन्मय हो गाता पलक मूँद
सातों सागर रह जाते बस
मेरे आँसू की एक बूँद !
मैं हृदय, प्रकृति का भाव-प्रवण !
मैं चिर-प्रकाश की अमर किरण !

मेरे छोटे से अन्तर में
लय होते जग के हास-रुदन,
मै पंच-तत्व के पलने में
पलता रहता हूँ चिर शिशु बन !
कर रही प्रकृति मेरा पोषण !
मैं चिर-प्रकाश की अमर किरण !

अनुराग लालिमा से अपनी,
जल-थल-अम्बर में रंहा लीप,
मैं निखिल विश्व के आँगन में
जल रहा चिरन्तन अमर दीप!

मुझसे आलोकित है कण-कण!
मैं चिर-प्रकाश की अमर किरण!

पिलानी
१६-११-४७

प्रभात

फूट गई ऊषा की लाली !
लो, प्राची में छलक पड़ी है नव माणिक-मदिरा की प्याली,
फूट गई ऊषा की लाली।

युग-युग से यह नित आती है,
कितना मधु ढुलका जाती है !
फिर भी इसके रस का सागर हुआ नहीं है अब तक खाली,
फूट गई ऊषा की लाली।

स्वर्ण-कपाट खुले प्राची के,
लुप्त हुए सब तारे फीके,
भगी न सह आलोक सत्य का तममय रजनी तारों वाली,
फूट फई ऊषा की लाली।

कलियाँ घूँघट खोल रही हैं,
मन्द पवन में डोल रही हैं,
चहक उड़ चले विहग नीड़ से झूम उठी है डाली-डाली,
फूट गई ऊषा की लाली।

जिसने स्वर्ण-विहान किया है,
एक और दिन दान दिया है,
निखिल चराचर का वह स्वामी है रे कितना वैभवशाली,
फूट गई ऊषा की लाली।

अमरोहा
अक्टूबर '४७

गंगा-तट का स्वप्न

अहा, भव्य थे गंगा-तट के वे मधुमय अरुणोदय,
सुन्दर थे सुन्दर, वसुधा पर वे प्रकाश के अभिनय।
जल में झुकती हरियाली से लदे तटों पर नित आ,
स्वर्ण-पुरुष कोई हँस-हँस नव कुसुम-वृष्टि कर जाता।
जी करता है, उन कूलों तक पक्षी-सा उड़ जाऊँ,
देख-देख वह स्वर्गिक शोभा मन को स्वस्थ बनाऊँ।
सम्मुख श्यामल तरु-माला में होता उदित मनोहर—
अग्नि-पुंज से नवल अरुण का शान्त बिम्ब अति सुन्दर।
शिखी-छत्र सी तनती नभ में रवि-माणिक की लाली;
मधुर फूटती दसों दिशा में जीवन-ज्योति निराली।
सहज छिटकती पश्चिम नभ में क्षीण गुलाबी रेखा,
और अमर जीवन का लिखता रवि कण-कण पर लेखा।
जड़ता की निद्रा तज उठते तरु-पल्लव-दूर्वा-दल,
अमर ज्योति के अभिनन्दन हित गाते नव स्वर खग दल।
ज्योति-श्री संगीत-सुधा में धरा मग्न हो जाती,
पुलकित प्राणों से दस दिशि को सौरभ अमित लुटाती।
ले रवि का प्रतिबिम्ब किलकतीं तट की लहरें भोली,
समुद स्वर्ण-कंदुक से करती क्रीड़ा, उड़ती रोली।
पड़ता विपुल-तरंगित जल पर फिर रवि-बिम्ब निराला,
या कि विज्जु-पक्षों की पड़ती टूट किसी की माला।
अनुप्राणित होता लाली पा उदयाचल-वासी घन,
होती देह सुनहली, तट पर पा प्रकाश का चुम्बन।

शीतल मन्द-पवन-परिचालित निर्मल नील तरल जल,
रवि-लाली-लीपित हो तट से करता कलकल छलछल।
शीतल जल-लहरों से उठता सरसों को लहराता,
मधुर पवन का झोंका मेरा भाल चूमता आता।
वह प्रेमामृतपूर्ण अरुण का नव आलोक सुनहला,
खेत, वृक्ष, झाड़ी पौधों को देता छवि से नहला।
पन्नामणि-सी सघन हरित नव सरसों की हरियाली,
विस्तृत कूलों पर लहराती नेत्र-सुखद छविशाली—
जिसमें खिलते अलंकार से पीत कुसुम अति प्यारे,
अम्बर से मानो धरती पर बरसे लाखों तारे।
फली चनों के भी दिख पड़ते पुष्प गुलाबी नीले,
गुँथे रत्न से लगते बिखरे तुहिन-विन्दु चमकीले।
हो निश्चिन्त थिरकती रहतीं वहीं समोद लजीली—
रूपवती रंगीन तितलियाँ रँग-रँग की चटकीली।
बाईं ओर दूर गंगा-तट स्थित काशी के शत् शत्
घर, गुम्बद प्रासाद छत्रियों का दल दिखता धनुवत्
ऊँचे कूलों की यह शोभा जल में हो प्रतिविम्बित्—
देती थी दृग और हृदय को नव आनन्द अपरिमित।
ऊपर शान्त कगारों पर उन पौदों पर खेतों के—
आम, कदम्ब, नीम, वट, कटहल, हरीतिकी, महुए के—
दल-सम्पन्न हरित वृक्षों पर गाते विहंग प्रभाती,
कभी विहंग-माला गंगा के नभ पर हो उड़ जाती।
आती पावन विश्व - नाथ के मन्दिर की दूरस्थित—
श्रवण-सुखद मंजुल घण्टा-ध्वनि करती अम्बर गुञ्जित।

नव

पार सामने वालू की वेला के आगे निश्चल,
दिखते थे गम्भीर भाव में लीन आम्र-दल श्यामल।
उस अमृत-वेला की मादक मधुर शान्ति में निर्मल,
आत्मा का आनन्द बरसता कण-कण से शुचि शीतल।
वह स्वर्गीय दृश्य मानस का अन्धकार हर देता,
जग-जीवन के प्रति मानस में अतुल प्यार भर देता।
मुक्त नील गम्भीर मनोहर अम्बर की छाया में—
वह प्राकृतिक दृश्य खिल उठता अरुणोदय-माया में।
आज जब कि मन पर जीवन पर पड़े क्रूर शत बन्धन—
उसकी सुधि दे जाती मन को मधुर मुक्ति के कुछ क्षण!
गंगा का सुन्दर प्रदेश वह लिये रूप-धन अपना—
आज बना मेरे दृग में स्वर्गिक प्रकाश का सपना!

बीकानेर
फरवरी ४६

अनुभूति

चिर अभावमय है यह जीवन !
ये अथाह जल-सिन्धु पृथूर्मिल
यह भूगोल, खगोल, चराचर,
हास - अश्रु, आलोक - तिमिर
ये जन्म-मरण जिसके हैं अनुचर—
उस ईश्वर की सृष्टि मनोहर
फैली देख सकल भूतल पर—
मुग्ध हुआ मैं कब मनमोहक
शोभा से निज आँखें भर-भर !

कब गद्‌गद हो मैंने दो क्षण
नेत्र मूँद, हो रोमाञ्चित-तन—
मंगलमय प्रभु का अन्तर में
किया आत्म-विस्मृत हो पूजन !
चिर अभावमय है यह जीवन

कब लपका मैं हो स्नेहाकुल
जीर्ण पात्र कर में ले निर्धन,
सतत टेरता उसकी महिमा
बिखराता पथ पर आँसू-कण !
चिर उन्मुक्त द्वार पर उसके
कब फैला जर्जर निज अंचल—
विलख विलख, उन मृदु चरणों में
उलझ उलझ रोया रज से सन !

उत्कण्ठित, कब उसके सम्मुख
करना चाहा आत्म निवेदन,
कब माँगे शीतल करुणा-कण
उस उदार घन से चातक बन!
चिर अभावमय है यह जीवन!

जिस त्रिभुवनपति की महिमा का
यशोगान गा रहे निरन्तर—
ज्योतिर्मय ये सूर्य्य, चन्द्रमा
युग-युग से दिन रात भ्रमण कर,
गहन नील इस महाशून्य में
गूँज रहा जिसका शाश्वत स्वर,
विश्व-प्राण बन डोल रहा है

मधुर पवन में जो अजरामर,
जिसकी महिमा का खग-दल नित
करता अरुणोदय में कीर्त्तन—
दम्भ त्याग मैंने कब उसका
किया कभी दो क्षण भी चिन्तन!
चिर अभावमय है यह जीवन!

जिस प्रकाश के अमर-दीप की
कनक विभा में निखिल चराचर,
खोज रहे अपना जीवन पथ
अन्धकार में दौड़ निरन्तर!
जिसकी एक मधुरतम स्मिति से
ज्योति स्रोत स्वर्णिल अरुणोदय—
फूट फूट कर रहे प्रकाशित
जिस अनन्त सत्ता का निश्चय,

जो इस भूमण्डल को निशि-दिन
देता है आलोक चिरन्तन,
उस ज्योतिर्मय के प्रकाश का
मैं दरिद्र कब करता याचन !
चिर अभावमय है यह जीवन !

हिन्दू विश्वविद्यालय
फरवरी '४४

तेः

खोज

यह जग गुलाब की है झाड़ी
डालो में अगणित शूल भरे,
हैं भरे पत्र, कोपल, कलियाँ,
सौरभमय सुन्दर फूल भरे,
मैं मधु का प्यासा उलझ उलझ
इसकी डालों में कण्टकमय,
नित खोज रहा खिलते किस पथ
जीवन के मधुमय चारु सुमन !

है इन्द्रजाल-सा जगत जटिल,
इसमें है कितना संघर्षण।
दारुण क्रन्दन अम्बर व्यापी
दुख-सुख, आशा-भय, जन्म-मरण !
प्रतिपल है निष्ठुर नियति यहाँ
कर रही प्राणियों से क्रीड़ा,
मैं खोज रहा फिर भी इसमें
मानव-आत्मा का शाश्वत धन !

अपनी ही अन्तर्ज्वाला में
संसार जल रहा है सारा,
'पी', 'पी' कर नित प्यासा मरता
प्राणों का चातक बेचारा,
प्यासे कंठों की प्यास बुझे,
उपजे मन में उज्ज्वल मोती,
मैं खोज रहा वे घन देते—
जो मधुर स्वाति के नव जलकण !

जिस ओर दृष्टि जाती जग में
दिखतीं बर्बरता, नाश, मरण,
मर्माहत लख कर व्यथित हृदय
मैं हूँ उदास रहता प्रति क्षण,
अव्यक्त व्यथा का भार लिये
जो पड़े धरा पर मूर्छित हो—
मैं खोज रहा हूँ उनके हित
रस एक अलौकिक संजीवन !

बन सका जगत् में आ अब तक
मैं किसी चरण की धूल नहीं,
बन किसी वक्ष पर सजा कभी
मैं किसी हृदय का फूल नहीं,
अपने प्राणों का प्राण समझ
जिसको सब कुछ अर्पित कर दूँ—
मैं खोज रहा हूँ धरती पर
कोई ऐसा निज जीवन-धन !

जिसके प्रकाश में मानस का
कटुतम बन्धन सब खुल जावे,
जिसकी स्वर्गिक स्वर्णाभा से
जीवन का सब तन धुल जावे,
जिसकी आभा पा दमक उठे
छवि-हीन मरण-मुख भी श्यामल
मैं खोज रहा हूँ धरती पर—
वह चिर प्रकाश की अमर किरण!

मैं खोज रहा हूँ प्राण—
जहाँ से मिलता है जग को स्पन्दन,
मैं खोज रहा वह तार—
जहाँ से मिलता है जग को गुञ्जन,
मैं खोज रहा उस छविमय को
जो फूट उषा की लाली में-
वासन्ती कुसुमों में मुसका
बरसा जाता स्वर्गिक कंचन!

मुझ आदर्शों के प्रेमी को--
इस जग में अब तक मिली नहीं,
सौन्दर्य, प्रेम, सुख-शान्ति अमर
स्वर्गिक प्रकाश की ज्योति कहीं!
मैं एक स्वप्न की सृष्टि मधुर
रच रहा स्वयं अब अपने में—
इस जग के पीड़ित प्राण जहाँ
पायेंगे सादर अभिनन्दन!

जोधपुर
जुलाई १९४७

१

नव प्रभात आया आया रे।
सरसित हरियाली पर शीतल
स्वर्ण लालिमा उतरी कोमल,
चमक रहे अप्सरा-अश्रु से—
नव हिम-कण रत्नों से उज्ज्वल!
केलि कर रहे चहक-चहक खग
नभ नव-नील निकल आया रे!
नव प्रभात आया आया रे!

२

मन्द-मन्द हिल रही डालियाँ—
फूलों की मधु-भरी प्यालियाँ,
डोल रहा है स्निग्ध समीरण,
नष्ट भ्रष्ट हो गई कालिमा!
पुष्प-लताओं में उलझी हैं
गन्ध-विकल मधुपावलियाँ रे!
नव प्रभात आया आया रे!

३

आज सकल जड़ चेतन मिल कर
हर्षित हो गा रहे पुलक कर—
विश्व-प्रेम, आशा, उमंग का
अम्बर-व्यापी गान मनोहर!
वन प्रकाश का दिव्य स्वप्न-सा
अरुणोदय भू पर छाया रे!
नव प्रभात आया आया रे!

४

सुधासिक्त करने को कण-कण
हृदयों को देने नव-जीवन
जरा-मरण-भय-क्लान्त मनुज का
लेने को मधुमय आलिंगन—
फूट सुनहली रवि-किरणों में
किसका प्यार उमड़ आया रे!
नव प्रभात आया आया रे!

जी करता है आज कठिनतर
तोड़-फोड़ लोहे का पिंजर
उड़ जाऊँ उन्मुक्त गगन में
मैं स्वतन्त्र पक्षी बन द्रुततर
क़ैद रहूँ कब तक सीमा में
मैं असीम पथ का आया रे!
नव-प्रभात आया आया रे!

६

आज़ आत्म स्वातन्त्र्य भावना
जाग उठी मन में लेकर बल,
हृदय हो रहा मुक्त तरंगित
सस्वर गिरि-निर्झर-सा चंचल!
मैं प्रकाश का अमर पुत्र, हा
बन्दी बन कर जीना क्या रे!
नव-प्रभात आया आया रे!

७

आज हृदय के शत-शत बन्धन
टूट-टूट पड़ रहे शिथिल बन,
चरणों में गति, मन में आशा,
जीवन में आया है जीवन!
फूल उठी छाती उमंग में
फूली हो जैसे सन्ध्या रे!
नव-प्रभात आया आया रे!

८

फूटी मधु-धारा प्रकाश की
फूटी धारा नवोल्लास की,
उमड़ा स्रोत शक्ति का अभिनव
इस मधु घड़ियों में विकास की
बाल-विहग की भी नन्ही-सी
पाँखों में बल भर आया रे!
नव-प्रभात आया आया रे!

९

इस मंगल छवि के कर दर्शन
भर आते नयनों में जल-कण,

१०

अरे, कौन है वह चिर सुन्दर
मधु, प्रकाश, सुषमा का सागर—

रोम-रोम कँप उठता सुख से
कंठों में भर आते गायन!
भाव-रत्न मन के सुन्दर-से
आज चढ़ा दूँ किसको सारे!
नव-प्रभात आया आया रे!

जिसकी मधुर-मधुर स्मिति नित आ
बनती यों अरुणोदय सुन्दर!
किस करुणामय की जल-थल में
फैल रही मोहनमाया रे!
नव-प्रभात आया आया रे!

११

कर लो आज मधुर निज जीवन
गा कर अमर प्रेम के गायन
ये मधु-घड़ियाँ फिर न मिलेंगी
परिमित ही मिलते ऐसे क्षण!
उल्लासित हो आज आम का
यह तरु-दल भी बौराया रे!
नव-प्रभात आया आया रे!

१२

चलो उड़ चलें दूर क्षितिज पर
जहाँ ज्योति के बहते निर्झर,
जिनकी लहरों में धुल-धुल कर
हो जावे निर्मल काया रे!
नव-प्रभात आया आया रे!

काशी,
फरवरी '४२

सावन

इन्द्रदेव की दया हुई दुनियाँ में नव-जीवन आया,
रिमझिम रिमझिम बरस रहा जल हरा भरा सावन आया।

घुमड़ रहे घन काले काले ठंडी ठंडी हवा चली,
मोर पपीहे बोल बोल कर गुँजा रहे हैं वनस्थली,
चीर बादलों को चाँदी-सी चमक रही चमचम बिजली,
खेतों में गा रहे कृषकगण देहाती स्वर में कजली,
प्राणों में उल्लास भर गया नदियों में जल उमड़ाया,
रिमझिम रिमझिम बरस रहा जल, हरा-भरा सावन आया।

हरे-भरे नव मैदानों के पार बनी शोभा का घर—
नीले रँग की गिरि-मालाएँ लगती हैं कैसी सुन्दर!
उन पर घिर घनघोर घटाएँ चली आ रहीं घुमड़ाती,
जिनमें दूध-सरीखी उजली बतखों की उड़ती पाँती!
अहा, नदी-नालों के मिस यह किसका प्यार उमड़ आया,
रिमझिम-रिमझिम बरस रहा जल, हरा-भरा सावन आया।

उछल रहे कृषकों के बच्चे ले-ले हाथों में लकड़ी,
सोच रहे बातें भविष्य की उनके मन में खुशी बड़ी,
गायें दूध दुहावेंगी, खेतों में वाले होवेंगी,
दूध, दही की नदी बहेगी, भाभी छाछ विलोवेंगी,
उनके लिये आज धरती पर मानों स्वर्ग उतर आया,
रिमझिम-रिमझिम बरस रहा जल, हरा-भरा सावन आया।

देख खेत के नव पौदों को हर्षित होकर आज किसान,
बैठ खेत की सजल मेड़ पर मुक्त कंठ से गाता गान,

खेत पकेंगे अहा सुनहले, भर जायेंगे सब खलिहान,
अबकी बार महाजन का ऋण चुकवा ही देंगा भगवान,
कृषक-वधू के कंठों में भी आज नया स्वर भर आया,
रिमझिम-रिमझिम बरस रहा जल, हरा-भरा सावन आया।

आम और जामुन के श्यामल फूले-फूले कुंजों में,
झूल रहीं झूला किशोरियां हिल-मिल हर्षित पुंजों में,
ऊपर तड़्-तड़् ध्वनि से मंजुल करती कोमल रंग रली,
पत्तों पर पड़ रही मेघ की बूँदे मोती-सी उजली,
लो फिर घुड़ड़ घुड़ड़ घड़ करता घिर घन पुंज घुमड़ आया,
रिमझिम-रिमझिम बरस रहा जल, हरा-भरा सावन आया।

विदा करा निज प्राणप्रिया को मैके से वह ग्राम-युवक,
चला जा रहा हरे-भरे वन की पगडंडी से निधड़क,
बजा रहा है मधुर बाँसुरी, तान छेड़ मतवाली-सी,
पीछे-पीछे चली जा रही लाल ओढ़नी वाली भी,
आज प्रेमियों के हित सावन नये सँदेसे है लाया,
रिमझिम-रिमझिम बरस रहा जल, हरा-भरा सावन आया।

पश्चिम में सिन्दूरी सन्ध्या फूट रही मेघों में से,
धुँआ निकलता है खेड़ों में घर-घर जलते चूल्हे,
नरम-नरम नव हरी घास अपने खुर से रौंदती अधर,
पूँछ हिलाती और रँभाती लौट रही गायें चर कर,
चहक रहे पक्षी पेड़ों पर जंगल में मंगल छाया,
रिमझिम रिमझिम बरस रहा जल, हरा भरा सावन आया।

लौट रही है खेतों पर से हम-जुल लड़कों की टोली,
भर लाये हैं जो खेतों से भुट्टे, ककड़ी की झोली,

सिर पर लिये घास का गट्ठर, हाथों में हँसिया सुन्दर,
ग्राम-रमणियाँ लौट रहीं नंगे बच्चे गोदी पर घर,
लाल चुनड़ियों में सिमटा है उनका यौवन गदराया,
रिमझिम-रिमझिम बरस रहा जल, हरा-भरा सावन आया।

विद्या-भवन, उदयपुर,
२१-७-४६

अभिलाषा

मेरे मन का सुख असीम यह फैले इस धरती पर घर-घर!
जल-तरंग उठ फैल उमड़ती सरिता के विस्तृत समतल पर,
वेणु-रन्ध्र से फूट फैलता निखिल गगन में मंजुलतम स्वर,
दीप-शिखा की ज्योति सुनहली दसों दिशाएँ देती हैं भर,
चन्द्र-कौमुदी अन्तरिक्ष में खिल जाती, जैसे इन्दीवर,
हो जाता परिव्याप्त चतुर्दिक नव फूलों का गन्ध मधुरतर,
आत्म-प्रकाशन कर व्यापक सब होते हैं दिन-रात निरन्तर,
पहुँच-पहुँच मानव-प्राणों तक मेरा सुख भी हो अजरामर।

काशी,
१३-२-४४

मरु का चन्द्रोदय

दिन भर से धधक रहा था सूर्यातप से भूमण्डल ,
तीखी किरणें अम्बर से बरसाती थीं दावानल ,
आतंक फैलता जैसे अत्याचारी शासक का—
इस मरु-अवनी पर फैला अति चंड तेज सूरज का !
अब हुई साँझ, रुद्राणी पड़ रही प्रकृति कुछ कोमल ,
लू हुई पवन में परिणित—शीतलतर होती प्रति-पल ।
नव-जात निम्ब-कुसुमों का वासन्ती पवन मनोहर ,
कह रहा केलि उपवन में, सुकुमार पवन पर चढ़ कर ।
प्रथमालिंगन से लज्जित नव-वधू सदृश मुसकाती ,
नभ में सुन्दरि शशि-बाला दिख रही कला छिटकाती ।
लो बिखर गये नभ-सर में नव कुंद-धवल तारादल ,
राकेश-हंस हित क्या ये हैं क्रीड़ा-मोती उज्ज्वल ?
कि.र पथ से-? किसकी ? सहसा बरसा अब करुणा कोमल ।
पा रहा शान्ति अब शीतल, ज्वाला में जलता भूतल ।
वह कौन ? चूमता जग को अमृतमय चन्द्र-अधर से—
करुणानिधान - सा आया चुपचाप उतर अम्बर से !
जो विश्व-वेदना से हो पीड़ित, विचलित, अति विह्वल ,
आलिंगन में जगती को भरता - सा आया कोमल !

बीकानेर,
अप्रेल-मई, '४६

ाईस

ओस-कण

हरित कोमल दूर्वा पर आज—
सजा हिम-कण का सुंदर साज,
मनोहर उषा-विचुम्बित गात !
मिला पर, केवल एक प्रभात !

मुक्त अम्बर तल सुन्दर वास,
स्वस्थ तन, उज्ज्वल मन, शुचि श्वास !
विश्व को बाँट पुनीत प्रकाश—
रूप, आभा, शीतलता, हास—
ज्योति में हो जाते ये लीन !
खेल जीवन का खेल नवीन !

मधुर नव मादक परिमल-स्नात
मुक्त वन-वन का मन्थर वात—
इन्हें देता है जीवन-श्वास,
हृदय में निखिल गगन का वास !
इन्हें क्या वर्षा, आँधी, शीत !
सदा ही ये निर्लिप्त, पुनीत !

अभी पाते ही नव-निर्वाण—
सूर्य - किरणों के स्वर्ण - विमान
व्योम से उतर इन्हें अविराम
स्वर्ग ले जायेंगे छवि - धाम !
विहग गायेंगे मंगल गीत
ज्योति-जीवन की होगी जीत !

काशी,
जनवरी, '४८

दो चिड़ियाँ

निर्जन, बीहड़ मरु-थल की
कंटकित जीर्ण झाड़ी पर
रवि-लाली में दो चिड़ियाँ
हैं चुम्बन - लीन परस्पर !

हैं डाल-पात हिमकण - युत
कटु शीत ! वायु बर्फ़ानी !
कह रहे किन्तु वे रसमय
अन्तर की प्रेम - कहानी !

हिंसक जग में जाकर तुम
यह प्रेम दिखाओ, पंछी !
स्वर्गीय प्रेम का मंजुल-
सन्देश सुनाओ, पंछी !

बीकानेर,
नवम्बर, '४५

गाँव की ओर

१

श्मामारुण पश्चिम के धूमिल
झाड़ी-झुरमुट का खग-गुंजन—
नव निशारम्भ नीरवता में
है डूब चुका कब का उन्मन।

२

गन्ने बजरे के खेत सुभर
तारकयुत विस्तृत अम्बर-तल—
हल्के - नीले धूम्राञ्चल में
सो रहे, हुए गम्भीर सकल।

३

दूरस्थ क्षितिज-तरुओं में से
इच्छा-सा उठ अतुलित मधुमय—
हो रहा कान्ति छिटकाता नव
कार्तिक पूनों का चन्द्रोदय।

४

तरु - वेष्टित तममय सदनों मे
जल रहे दीप कुछ इधर उधर,
नीरव झाड़ी मे झींगुर की
उठ रही मधुर झंकार प्रखर।

५

बकरी के लघु - गुरु ऊर्मिल स्वर
खेतों में से रह - रह उठ कर—
खो जाते कुछ क्षण रह सहसा
निस्तब्ध शान्ति-नद मुखरित कर।

६

इस ओर कहीं पर अनति दूर
तरुओं में कुछ श्रमजीवी नर—
लकड़ी का लट्ठा चीर रहे
आती जिसकी ध्वनि घर् घर् घर्।

७

कटहल, जामुन, बट, नीम, बेर
पीपल तरुगण सम्पन्न धरा—
कुहरे की चादर ओढ़ मृदुल
कर रही निमन्त्रित अब निद्रा।

८

छत, आँगन, खिड़की, भींत, अजिर,
सीढ़ी, चत्वर, छाजन, भू पर
पीले हिमकर की पीत प्रभा
है फैल गई सर्वत्र उतर।

९

डंठल - पत्रों की छाया से-
चित्रित, खेतों के सूने पथ,
है स्तब्ध वनस्पति, नीड़ों में
सब खग भी सोए हैं श्रम-श्लथ।

१०

बाँसों के झुरमुट की अथवा
केलों की छाया सहज लिपट—
दीनों के घर की भीतों से,
करती स्वाभाविक स्नेह प्रकट।

११

मुसकाते मृदु वन-कुसुमों का
मीना - भीना सौरभ मनहर—
दूरागत - वंशी - ध्वनि - पुलकित
उज्ज्वल ज्योत्स्ना में गया बिखर।

१२

अन्यायों की इस धरती का
अवलोकन करके यह हिमकर-
शोषित दुखियों पर बरसाने
आया निज करुणा का सागर।

काशी
नवम्बर ४३

पावस-श्री

१

लो फैल गई सारे वन में
मंगलमय सुन्दर पावस-श्री,
मधुमय नव वर्षा से धुल-धुल
वन की पत्ती-पत्ती निखरी।

२

हिंगोट, जाँठ, कीकर द्रुम से
पूरित, पावस-माधुरी भरी,
हो रही गोखरू के नन्हे
पौदों से सब वन-भूमि हरी।

३

भूरी, कजली औ' दुग्ध-धवल
सुस्वस्थ धेनुएँ ग्रीवानत,
चर रहीं घास तन्मय होकर,
हरियाली अवनी पर अविरत।

४

सजला मिट्टी की उन्मादक
उठ रही भूमि से गन्ध मधुर,
जिससे चंचल होकर पक्षी
चहचहा रहे हैं इधर-उधर।

५

अह, चपल इन्द्र-धनुषी सुन्दर
वह नीलकंठ पक्षी द्रुततर-
अब तज करील की यह झाड़ी
उड़ रहा बैठने उस तरु पर।

६

तरु-पल्लव दल सिहराता-सा
लहराता मटमैले जल को,
कँपकँपी उठा तृण-नोकों में
लहरा ग्राम्या के अंचल को—

बह रहा वृष्टि-जल-शीतलता—
पूरित सावन का मधुर पवन,
छहराता - सा कोमल कोमल
नन्हे - नन्हे शीतल जलकण।

८

विद्युत्युत ध्वनिकारी मञ्जुल
कजरारे जलदों के नीचे
निश्चिन्त ग्राम - वधुएँ भोली
टेढ़ी - मेढ़ी पगडंड़ी से—

९

जा रहीं घास के गट्ठर ले
अञ्चल समीर में लहराती
गाती जातीं मृदु कंठों से
रागिनियाँ मीठी देहाती—

१०

काँसे के आभूषण पहने
ओढ़नी छींट की ओढ़ नवल;
दृग चपल, प्रणय रस से पूरित
यौवन - रस - पूरित, वक्षस्थल।

११

इस गोचर - भू से अनति दूर
आश्रम के कुंजों में सरसे—
कर रहे रोर प्रति - स्पर्द्धा में
अगणित मयूर उच्च स्वर से—

१२

जिनकी प्रतिध्वनि नभ-मंडल के
विस्तृत उर को करती विदीर्ण,
धीमे घन - गर्जन को भी
अपने में कर लेती विलीन।

१२

तरु - पुंजों से वेष्टित खेड़े
दिख रहे यहाँ से दूर - दूर,
धूमिल घन - छाया में सोए
मानों निद्रा में हुए चूर।

१४

पश्चिम दिगन्त में सन्ध्या के
ढलते रवि की आलोक भरी—
किरणें, घन का आलिंगन ले
कर रही उन्हें हैं सिन्दूरी।

१५

सन्निकट वहीं सुस्थिर ले
बैंगनी चारु गिरि - माला की
सुन्दर सुस्पष्ट शिरोरेखा
दिख रही मुकुट तीखी-बाँकी।

१६

खेतों की सीमा छूता - सा
निकला यह जो पथ दूरागत
जाता आश्रम की ओर विपुल
तरुओं में से होकर अविरत।

१७

है हर्षोत्फुल्ल प्रकृति सारी,
हँस रही धरा है हरित हास,
इस वर्षा-वैभव को लखकर
भर गया हृदय में नवोल्लास।

रेवाड़ी,
अगस्त, '४४

हरी घास

शैल-तटी की हरी घास।
निज मधुर सरसता भर दे न! मेरे भी जीवन में उदास,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

तू कोमल-कोमल, सरल - सरल,
तू मधुर - मधुर, शीतल, निर्मल,
सुन्दर है तुझसे ही भूतल,
तू बता कहाँ से पाती है इतना जीवन - रस, मधुर हास,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

तू उजले हिमकण से धुल-धुल,
जीवन के नव मधु में घुल - घुल,
अपने ही सौरभ से खुल - खुल,
रखती निज जीवन हरा भरा, निशि - दिन कर यों एकान्तवास,
ए, शैलतटी की हरी घास।

कितना सुख मिलता है थककर-
गिर तेरी शय्या पर सुन्दर-
लखने में तारों का अम्बर,
जब टूट चुकी हो सब आशा, जब मन होता बिलकुल उदास,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

आमों पर से होती तुझ पर,
जब ढलती है चाँदनी मधुर,
(आता हो कोई वंशी स्वर)
कितना बल-संग्रह करता मन फिर से तुझ पर, लख महाकाश,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

तू मुझे बहुत लगती प्यारी,
तू बड़ी सरल, हे सुकुमारी,
बलिहारी तेरी बलिहारी,
मैं निश्छल मन का हूँ किंकर, मैं सरल हृदय का सदा दास,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

तू अपना सच्चा हृदय खोल,
आलिंगन देती बिना मोल,
मैं देख चुका सर्वत्र डोल,
मुझको न कहीं भी मिला प्रिये, निष्कपट हृदय का मृदु विलास,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

निश्छल है तेरा प्यार, सखी,
निश्छल तेरा शृंगार, सखी,
निश्छल तेरा उपहार, सखी,
भोली, तूने छल कब जाना, निश्छल हैं तेरे प्रेम - पाश,
ए, शैल तटी की हरी घास।

जब छा जाती प्रातः स्वर्णिल
अरुणोदय की लाली कोमल
तुझ पर से हो चिड़ियों का दल,
उड़ जाता सहसा, तब मन में भर जाता कितना नवोल्लास,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

सुन्दरि, जग में है प्यार कहाँ?
केवल धन का व्यवहार जहाँ!
आडम्बर का संसार वहाँ!
जल जायेगी, जग में मत जा, गिरि - अंचल में ही रख निवास,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

तू ओढ़ा करती है सुन्दर,
तारों वाला जगमग अम्बर,
झरनों का सुनती कलकल स्वर,
तेरी हरियाली से कितने कंठों में भर आती मिठास,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

तू मुझको निज हरियाली दे,
अपनी आभा छबिशाली दे
मन की भाषा रसवाली दे
तू सिखा मुझे कैसे करना मन के रस से जीवन - विकास,
ए, शैल - तटी की हरी घास।

टॉड़ाफाल (यू० पी०)
अक्टूबर १९३९

एकान्त क्षणों में

खिली चाँदनी, बिखर गये चाँदी के मोती अम्बर में,
श्रान्त कृषक, श्रमजीवी अब विश्राम ले रहे घर-घर में,
विरल हुआ पगडंडी पथ पर पथिकों का आना - जाना,
फैल गई है निशा-शान्ति सब खेतों में बस्ती भर में।

गन्ने के खेतों पर से हो एक रागिनी देहाती,
किसी कंठ से फूट आ रही है प्राणों को सिहराती,
इधर-उधर हैं दीन घरों में म्लान दीप टिमटिमा रहे,
दूरी पर हैं श्वान भूँकते, तम की काया कँप जाती।

आज न जाने क्यों सन्ध्या से व्याकुल है मेरा अन्तर,
दुखमय बीती याद जगाता बहता शीत पवन मन्थर,
मुक्त चन्द्रिका-धौत गगन की श्वेत बदलियों में भीनी,
कुन्द-गौर शशि गद्‌गद होकर किलक रहा नभमें सुन्दर।

इस एकान्त शान्तगृह-छत पर बैठ व्योम तल तारकमय,
देख रहा हूँ मुदित चन्द्र का मैं लोचनरंजन अभिनय,
विस्तृत ग्राम-शान्ति में डूबी सौम्य प्रकृति की शोभा को,
सावकाश हो देख रहा हूँ, मन में पीड़ा का संचय।

स्तब्ध झाड़ियों में झींगुर की ऊर्मिल, दीर्घ, प्रखर झंकार-
चीर मधुर गम्भीर शान्ति झनझना रही मेरे उर-तार,
और उधर दो तीन द्रुमों के पार वृषभ की घंटी के—
स्वर के साथ उठी बकरीकी ध्वनि भी आती कभी उदार!

५

कच्चे श्री-फल के अन्तर-सा धवल हुआ सम्पूर्ण गगन,
भाल चूमता डोल रहा है तरुओं का सुकुमार पवन,
व्योम शान्त है, धरा शान्त है, सकल दिशाएँ मौन हुईं,
और हृदयमें मधुर व्यथा का भरा हुआ अतुलित स्पन्दन ।

आज हो रही सूनेपन की मर्मभरी अनुभूति विकल,
मुक्त नील गम्भीर गगन में हृदय उड़ा जा रहा सकल,
शीत पवन की मृदुल लहरियाँ भर कर सिहरन अङ्गों में,
इस शीतल रजनी में मन में भर जाती कितनी हलचल !

निशारम्भ-तम में खोते-से अन्तिम सन्ध्या-खग-स्वर-सा—
मेरा बोझल हृदय आन्तरिक तम में डूब रहा सहसा ।
जी करता है एक रागिनी गाऊँ ऐसी व्यथा भरी,
बरस पड़े नयनों का वैभव हो उर बरसे बादल सा ।

विलख किसी आँचल से लग कर दो क्षण हल्का हो जाऊँ !
और थके बालक - सा जी भर धैर्य छोड़ कर रो पाऊँ ।
स्नेहमयी जननी की मीठी थपकी सी पा कर तन पर,
मनोव्यथा को बहा अश्रु में, गाते-गाते सो जाऊँ ।

जी करता है, आज कि मुझको अन्धकार हर ले आ कर,
स्नेह-रिक्त दीपक की ज्यों अवशिष्ट शिखा को महातिमिर,
इस निस्तब्ध निशा में सकरुण झींगुर रव सुनता-सुनता,
रुक जाऊँ, धड़कन रुक जावे, टिके रहें लोचन शशि पर ।

शुभ्र चन्द्रमा, तेरी उज्ज्वल किरणों की शीतलता नव,
भाल, पलक, कुन्तल पर मुझको हो अनुभूत रही नीरव,
मेरी आँखें निखिल व्योम में डूबी हैं सूनी - सूनी,
धड़क रहा उर, जिसमें मीठी स्मृतियों का चलता कलरव ।

आह, हृदय का यह स्पन्दन जो कभी नहीं होता है शान्त,
इस निस्तब्ध निशा में सुखमय पा जावे अनन्त विश्रान्ति,
अरे ले चलो चन्द्र, मुझे तुम इस पीड़ा की अवनी से—
बैठा कर निज प्राणदायिनी स्निग्ध नवल किरणों पर कान्त !

देव - मंदिरों की दूरागत मंजुल घण्टा - ध्वनि टन् टन्,
निखिल व्योममें तार-तार हो बिखर रही शिथिलित, उन्मन,
(पीड़ित वसुधा हित रजनी की मीठी स्निग्ध थपकियों सी)
चन्द्र-निशा के श्वेत कमल पर हो ज्यों मधुकर का गुंजन।

नव फाल्गुन की सघन उपज से लदी ललित-ऐश्वर्य्यमयी,
रूपवती वसुधा सोई है ओढ़ चाँदनी कान्तिमयी,
चारों ओर दूर तक सरसों के, गेहूँ के, अरहर के,
खेत चाँदनी में सोये हैं ले छाया - छवि चित्रमयी।

शान्त खड़े हैं पेड़ चतुर्दिक नीम, आम, कदली, मन्दार,
महुआ, जामुन, रेंड़, पपीते, जाने क्या कर रहे विचार,
शान्त घरों, खेतों, कूपों को घेर खड़े सर्वत्र सभी,
हैं समीपवर्ती अति श्यामल फूले - फूले छत्राकार।

किन्तु, दूर की तरु-मालाओं पर है ज्योत्स्ना की कुहरिल
नील-धवल मलमल की झीनी चादर है फैली कोमल,
खेत-मध्य की पांशुल पगडंडी पर झुके खड़े पौदे,
छाया-चित्र बनाते, झींगुर की झंकृति चलती अविरल।

बीत चली रजनी इतनी, खिलखिला रहा शशि अम्बर में,
उठो हृदय, लहरों से नित ही लड़ना है जग-सागर में !
जीवन भर शशि-सूर्य साथ, आलोक-किरण तू पाता चल,
प्रति प्रभात-गा मिला मधुर स्वर अपना विहगों के स्वर में।

काशी
फ़रवरी

शिशु के चित्र

(शयन)

१

कुन्द-सी खिली चाँदनी रात।
व्योम में किलक रहा शशि मञ्जु,
चिलचिलाता तारों का गात,
कुन्द-सी खिली चाँदनी रात।

२

दूर उन पेड़ों से उस पार,
आ रहा मधुमय वंशी नाद,
सुप्त शिशु की साँसों सा स्निग्ध
बह रहा मधुर पवन सोन्माद।
महकती है मेंहदी की गन्ध,
चन्द्रिका-धवल, गगन-विस्तार,
निकल पड़ता नीमों से सुप्त
ठहर कर मर्मर स्वर सुकुमार!

दूध-सी शय्या पर अम्लान,
प्रथम शिशु को निज लिटा अजान,
रूपमयि कान्ता माँ भर अंक,
मुदित हो करा रही पय-पान—
कान में कह धीमी कुछ बात।
कुन्द-सी खिली चाँदनी रात।

३

मसृण कच सूँघ चूम सस्नेह
नग्न उसकी पृथु मृदु-मृदु देह,
चरण सहलाती सी सुकुमार,
कभी थपका तन ले ले प्यार
कर रही है जननी स्तन-दान,
प्राण में कितना भरा हुलास!
चुम्बनों की कर देती वृष्टि
उमड़ता मन में जब उल्लास!

फेंकता शिशु मयंक की ओर
मृदुल निज नन्हें नन्हें हाथ,
किलक, माँ के गालों पर कभी
सहज कर उठता मृदु आघात,
गात में भर लेती माँ गात।
कुन्द-सी खिली चाँदनी रात।

४

पड़ा स्तन शिथिलित-मुख पर शान्त,
टिके हैं शशि पर शिशु के नेत्र,
देख चाँदी का चन्दा गोल,
कुतूहल से मुख हुआ अचेत।
क्षुधा थी भी कब? केवल शुद्ध
मनोरंजन ही था पय-पान।
मृदुल जिह्वा स्तन-मुख पर क्षणिक
विचरती ठहर ठहर अनजान।
विपुल-ज्योत्स्ना का कोमल भार
पलक हा, सह न सके सुकुमार,
मुँद गईं दृग-कलियाँ निद्रालु,
खुला का खुला रहा मुख द्वार।
बह रहा सुखद सुकोमल वात।
कुन्द-सी खिली चाँदनी रात।

५

हो गये अब विस्मृति में लीन,
लग गईं अब दोनों की आँख—
कुसुम पर रस-लोलुप निश्चिन्त
तितलियों की ज्यों लगती पाँख।
बाल-जिह्वा का स्तन पर लोल
सरस, सुखमय, रोमाञ्चक स्पर्श—
मनोहर-स्वप्न-लोक के बीच
थकित माँ को ले गया सहर्ष।
उड़ गये भर निःशब्द उड़ान
स्वप्न-छाया-वन में छविमान्
तितलियों से स्वप्निल गतिवान्
खोजने स्वर्गिक स्वर्ण-विहान।
झर रहा नभ से सुधा-प्रपात।
कुन्द-सी खिली चाँदनी रात।

(२) जागरण

१

विहग-दल कूज रहा सानन्द,
समीरण डोल रहा मृदु मन्द,
बेर अमरूद-द्रुमों के पात
सिहरते सुख-रोमांचित-गात!
उषा झाड़ी-पत्रों के बीच—
धरा पर रही लालिमा सींच,
भूमि पर झड़े पड़े हैं पात,
झर पड़े फिर भी लो छः सात।

२

नीम, कटहल, आमों के बीच—
बनी कुटिया के द्वार समीप—
सो रहा है शय्या पर बाल;
जग रहा—अब है प्रातःकाल।
वायु-स्पर्शन से टटकी सद्य
कुसुम-कलियों से उसके नेत्र—
विहग के मधुमय गुंजन बीच
खुल पड़े नीरव, (अभी अचेत!)

३

स्वस्थ हल्के मृदु निद्रा-तृप्त
दृगों से सहज उड़ गये स्वप्न—
पुष्प को बिना हिलाये ज्यों कि
तितलियाँ उड़ जातीं सुख-मग्न।
एक क्षण चुप ! निश्चल ! निश्चेष्ट !
कुतूहल के लोचन हैं मौन !
प्रतीक्षा है किसकी ? अति मंजु
लाड़ की है वह गोदी कौन ?

४

अहह सहसा निज मांसल देह
अचल वह लहरा उठा अधीर,
रो पड़ा यह लो स्तन कर याद !
चरण में उलझा झीना चीर !
जननि गौदोहन रत उस ओर,
जहाँ पर रँभा रही है धेनु—
चाटती मुख-तल निज शिशु देह,
पात्र भरती पय से बहु-फेन !

५

दौड़ आई मां स्नेहाधीर
टेरती नाम भरे मृदु-भाव
प्रवाहित किया सुधा का स्रोत
लाड़ले को प्राणों में दाब !

६

गाल पर अंगुलि गड़ा सनेह
फेर पुचकारी युत सिर हाथ
आँख से आँख मिला अज्ञात
लगी आँचल में करने बात !

७

ढल रहीं किरणें आँगन बीच
बह रहा सुखद पवन मधु-स्नात्,
जननि केशों से खिसका चीर
तनिक लुढ़काता भू के पात

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
अप्रैल ४२

प्रकृति की गोद में

१

थी धूप मनोहर बहुत आज अगहन की
जल, थल, अम्बर सब कुछ प्रसन्न लगते थे,
करते विहार स्वच्छन्द गगन में पक्षी
मैदानों में बच्चे क्रीड़ा करते थे।
थे खेत हरे, आकाश बहुत नीला था
तितलियाँ धूप में रमती थी फूलों पर,
हँस-मुख सी लख सब प्रकृति, चल पड़ा मैं भी
भ्रमणार्थ, एक अनुकूल मित्र को ले कर।

२

छुट्टी का दिन था, चले जान्हवी-तट की
रमणीय दिशा में अलसित डग भरते से,
शोभा निहारते शारदीय खेतों की
हँसते-गाते से, धूप-स्नान करते से।
सत्वर, कुसुमित हरियाली वाले श्यामल-
कूलों वाली विस्तृत गंगा का निर्मल-
दिख पड़ा नील जल, तट पर रुक कर कुछ क्षण
उद्देश्य-हीन, आगे हम पुनः पड़े चल।

३

पगडंडी चलते, अरहर के पौदों को
निश्चिन्त करों से जाते हम हिलराते,
उनकी मृदु छाया-धूप-जालियाँ पड़तीं
अंगों पर, हम करते जाते थे बातें।
निज पद-ध्वनि औ आलाप, हास, गीतों से
हो उठती पथ की सब नीरवता मुखरित,
रेंड़ों के पत्तों में बैठी चिड़िया भी
ध्वनि सुन फुर् फुर् उड़ जाती तरु तक प्रमुदित।

४

अब हरित वेणु-कुंजों की नव छाया लख
हम रुके तनिक मल्लाहों की बस्ती में,
दुधमुँही एक नंगी भोली बच्ची को
मैंने थुपकाया छू कपोल अति धीमे।
अत्यन्त स्नेह से एक परम वृद्धा ने
ला कर हमको अति शीतल नीर पिलाया,
मैं नहीं चाहता था अब आगे बढ़ना
लखकर शिशु-क्रीड़ा, सघन वेणु की छाया।

५

पर, एक पूर्व-परिचित किसान की इस क्षण
हो आई मुझको याद वहाँ सहसा ही,
फिर बना लक्ष्य उसकी बाड़ी को ही निज
चल पड़े उसी पथ के हो कर हम राही।
गंगा-तट के उन हरे भरे, हर्षाते
खेतों, कुंजों, गाँवों में से होकर हम
बढ़ चले लगा अनुमान दिशा का अपनी
गंगा की नीली धारा से सुन्दरतम।

पालिस

६

कन्धे पर मेरे लटक रहे झोले में
था वर्ड्सवर्थ का कविता-संग्रह रसमय,
कुछ पत्र लेखनी और खाद्य-सामग्री-
आवश्यक जो ऐसे पथ पर निस्संशय।
ऊपर प्रसन्न अम्बर निःसीम तना था,
जिसकी सुनीलिमा लख मैं था हर्षाकुल
अवकाश-प्राप्त थे हम, पथ मुक्त पड़ा था,
थे खेत हरे, पग चपल, चहकता खग-दल

७

दिख पड़ी मुझे वह कुटी दूर चिर-परिचित
पहुंचे जब उसके निकट, हृदय हर्षाया,
लख हमें दूर से ही आता, वह कुसुमित-
लतिका से सज्जित कुटी छोड़ कर आया।
दो क्षण ठिठका, सत्वर पहचान गया फिर,
होकर विनीत, करता आया अभिवादन
हो गया हरा मन, देख प्रीति यह उसकी
उस निर्धन में कर मधुर भाव का दर्शन।

८

संकोच, हर्ष, सत्कार भरे नयनों से
आतिथ्य-भाव-पूरित हो आसन लाता
फिर जा घर में शुचि पीतल के लोटे में
जल भर, लेकर अति स्वच्छ कटोरा आता।
हम बोले—"थोड़ा ठहरो तो !" "अच्छा तो
कुछ नये बाल तो ले आऊँ बजरे के ?"—
वह था अधीर स्वीकृति पाने निज, हमने
लटकाये कपड़े द्रुम-तन पर महुए के।

छप्पर से छाये चार काष्ठ-स्तम्भों पर
स्थित म्लान-वस्त्र-संपुटित चारपाई थी,
नीचे समीप ही वजरे के वालों का
था ढेर लगा, ऊपर छाया छाई थी,
कुछ हट कुटिया की ओर नाँद में अपना
मुँह डाले गैया सानी खाती रुक-रुक
थी अग्नि वुझी-सी एक ओर कंडे की
औ धूम्र-पान के उपादान आवश्यक।

१०

निज करुण कथा अब लगा स्वयं वह कहने
हमको लख उसका आर्द्र कंठ भर आया,
"इस साल बाढ़ ने गंगा जी की भीषण
चौपट कर डाला सब, न तनिक बच पाया।
सरकार, और वह जमींदार भी हमसे
है माँग रहा भारी कर, अब होगा क्या!"
उस अर्ध-नग्न कंकाल-गात्र के दृग में
मैंने देखा युग-युग का दुखमय लेखा।

११

काशी के दक्षिण में सुदूर एकाकी
निर्जन में गंगा के अति सूने तट पर,
पाता न जहाँ पर पहुँच नगर कोलाहल
फैले हैं कुछ दूरी तक खेत निरंकुर—
जिनमें अगहन अपराह्न पहर के अलसित
सूर्यातप में हैं खड़े वृक्ष हो निश्चल—
हल-जुती भूमि पर अविचल होकर लेटीं
जिनकी उन्मन नीरव छायाएँ श्यामल।

१२

पश्चिम दिशि में दूरी तक है सरिता-सी
रजतोज्ज्वल विस्तृत कास-राशि लहराती—
जिसके आगे धूमिल पादप-पुञ्जों में
दिखतीं, ओझल-सी, लोचन-दृष्टि थकाती—
दूरस्थ विश्व-विद्यालय के भवनों की
सूर्य्यातप-चुम्बित स्वर्ण-कलश-मुकुटित, नव
काषाय-गुम्बदों की लघु-लघु आकृतियाँ
स्वप्निल दिगन्त-पलकों में सोईं नीरव।

१३

धूमिल दक्षिण दिशि में फैली कोसों तक
गन्ने, गेहूँ की सघन खेत मालाएँ,
जिनमें इतस्ततः कास-राशि में से उठ
तरु ताड़-लम्ब दिखते निज शीष उठाये।
ऊपर निरभ्र धूपोज्ज्वल नील गगन में
नव-धुनी धवल रूई के हल्के निर्मल—
फाहे सी उज्ज्वल एक दूधिया बदली,
उड़ रही उनींदी-सी मिटती-सी पल-पल।

१४

है शान्ति सो रही, केवल निज वाणी-स्वर
या तरु से तरु पर उड़ते खग का मृदु स्वर—
कर रहा भंग निःसीम विपिन नीरवता,
करता-सा सूनापन-गांभीर्य्य गहनतर।
सो रहा पवन खेतों के तरु-पत्रों में
जिसकी नीरव साँसों से तृण, कलिका, दल—
हिल रहे मन्द अति, जैसे मृदु ज्योत्स्ना में
बहती रोमांचित लहरें सिहर सिहर कर।

१५

बैठी है धेनु मुँदे-दृग छाया-चित्रित
कर रही जुगाली फेनिल-मुख अति उन्मन,
उठ पड़ती सहसा कभी मशक-दंशन से
ग्रीवा-घंटी बजती मञ्जुल टुन टिन् टिन्।
सहसा तरकारी की वाड़ी में बैठी—
कज्जल चिड़ियाँ पीली चोंचों की सत्वर
उड़ जातीं फुर् फुर् द्रुत-गति चीं चीं चीं कर
आगे बजरे के खड़े पके पौदों पर।

१६

अति सुरुचि-सँवारित सजल क्यारियों में नव
छायातप की जाली में उलझ परस्पर—
मृदु पवन-विकम्पित कुसुमित पौदे नूतन
उग रहे विपुल, नयनों को लगते सुन्दर।
उनकी भीनी शीतलता मुझको भाती
जब भाल स्पर्श कर मेरा मधुर समीरण-
बह जाता, मुझको क्षण भर करता विस्मृत
सरसित-हरीतिमा-तृप्त मुँदाता लोचन।

१७

मैं लेट गया उस परम स्वच्छ आँगन में
सिर के नीचे रख कर वह अपना झोला,
मर्मर-युत तरु-छाया पड़ती थी ऊपर
हो भाव-प्रवण सा साथी सुरपति* बोला—
"देखो तो बहती है बूढ़े के मन में
कितनी रस-धारा, यद्यपि कृश है काया!"
इतने में देखा सुहृद वृद्ध हर्षित-सा
खेतों का धन कुछ हमें खिलाने लाया।

* मेरे मित्र प्रियवर कुँवर सुरपति सिंह एम० ए०, एल० एल० बी०, बीकानेर।

१८

हा ईश्वर ! कितनी शांति यहाँ छाई है,
नव चन्द्र-चाँदनी सी फैली नीरवता,
जब कभी विहग-स्वर उठ जाता सहसा तो
निश्चल सागर में उठी लहर-सा लगता
वह शांति—नहीं मिल पाती जो क्षण भर को
करने पर भी त्रिभुवन का सब धन अर्जित-
वह इन झोंपड़ियों की शुचि दीवारों पर
ढलती तरु-छाया में मिलती है हर्षित।

१९

करने को स्वर्णिल द्वार बंद पश्चिम के
सन्ध्या अब आने ही वाली थी सत्वर,
था लगा डोलने शीत पवन पेड़ों में,
होता सा लज्जित हुआ प्रान्त धूमिलतर
आश्वासन दे प्रायः आते रहने का
निज आतिथेय से कर सस्मित अभिवादन—
हम लौट पड़े, सुनते स्वर्णिल सन्ध्या के
बाँसों के झुरमुट में विहगों का गुंजन।

२०

हो गई प्रकृति भी शनैः शनैः अब नीरव
सब लौट गये अपने नीड़ों में खग दल,
दूरी पर काशी के विद्युद्दीपों की
परछाईं गंगा पर पड़ती थी झलमल।
जब गये, मिली थी पथ पर एक विहग की-
लघु पाँखस्निग्ध रोमिल शुचि दुग्ध-धवल, नव,
विकृति भय से रख गया तने में द्रुम के
ले आया उसको भी, सयत्न लौटा जब

साधना-पथ पर

दीर्घ है पथ साधना का, नाम ले विश्राम का मत !

आज अपनी शक्तियों का कर सबल आह्वान तू ने,
पुण्य-पथ पर निज, अभी ही तो किया प्रस्थान तू ने,
किन्तु पथ पर देख कर चट्टान, काँटे और खीले–
रुक गया क्यों? भूल साथी, जो लिया, प्रण ठान तूने!

बढ़, तुझे करते निमन्त्रित आज हैं तूफ़ान शत-शत !
दीर्घ है पथ साधना का नाम ले विश्राम का मत !

क्या हुआ, यदि पथ विकट है ? प्रलय-पारावार है तू,
ज्योति के हे पुत्र, सुन, इस सृष्टि का शृंगार है तू,
ये प्रलय, ज्वालामुखी, भूकम्प भी तो आज जानें—
है न तू दो अस्थि भर पर शक्ति का अवतार है तू!

दाँव जीवन का अभी से ही न तज यों हार हिम्मत !
दीर्घ है पथ साधना का, नाम ले विश्राम का मत !

है न चमकी ही अभी तो भाल पर तेरे मनोहर—
शुभ्र श्रमकण के समुज्ज्वल मोतियों की पाँति सुन्दर,
देवताओं ने न देखा है तुझे विष-पान-करते,
हास की मृदु चाँदनी का फूटना तेरे अधर पर,

ठोकरों में हैं न चूरे सैकड़ों गिरि-शृंग उन्नत !
दीर्घ है पथ साधना का नाम लें विश्राम का मत !

[illegible]

वज्र से दृढ़ हाथ मे लें डाँड तू अपने अचंचल,
तू प्रलय के सिन्धु की उद्दण्ड छाती चीरता चल,
फोड़ता मस्तक भयंकर आँधियों का वक्ष से निज;
नष्ट करता चल प्रकृति की शक्तियों का तू अतुल बल,
देवता भी काँप जावें, देखकर तेरा अटल व्रत
दीर्घ है पथ साधना का नाम ले विश्राम का मत!

देह का दीपक बना तू प्राण की बाती बना ले,
विश्व के आघात सह-सह वज्र सी छाती बना लें,
बढ़, भँवर की ओर, देता आज लहरों को चुनौती,
पाल सब फट जाँय चाहे, हाथ में पड़ जायँ छाले,
डाँड तेरे टूट जावें किन्तु मस्तक हो नहीं नत!
दीर्घ है पथ साधना का नाम ले विश्राम का मत!

न्द्रिकालोकित, प्रफुल्लित, दूधिया, नक्षत्र-विजड़ित—
ोम, नीचे गन्ध-विह्वल पुष्प-वन में बैठ सस्मित—
द्र-वदनी रूपसी को प्रणय-प्लावित वक्ष में भर—
रूप के रस-पान की इस क्षण सखे, कर कामना मत!
कर्म-पथ पर हाँकता चल भव्य अपना दिग्विजय रथ!
दीर्घ है पथ साधना का गाम ले विश्राम का मत!

साधना का देश है यह, है यहाँ अनिवार्य्य जलना,
कण्टकों के मार्ग पर पड़ता यहाँ अविराम चलना,
दर्द का उपचार कोई भी नहीं प्यारे, यहाँ पर,
'अनवरत बढ़ना' नियम यह है न टलता, है न टलना,
चूर्ण होकर भी सखे तू पूर्ण कर अपना महा व्रत!
दीर्घ है पथ साधना का नाम ले विश्राम का मत!

उदयपुर
मार्च ४७

याचना

तुम एक बार तो आकर
करुणा करके, जीवन-धन,
स्वर्णिल प्रकाश से भर दो
मेरा चिर तम-मय जीवन—

तम में सोई घाटी को
जैसे प्रातः बालारुण-
सहसा प्रकाश से भर कर
कर देता छवि से पूरण।

तुम एक बार तो छू दो
करुणा-कर से मेरा तन,
ज्यों शशि देता छवि घनको
उसके तट का ले चुम्बन।

नव दिव्य दीप्ति से जगमग
कर दो न! यह नश्वर तन,
रागारुण रवि करता ज्यों
कंकड़ - मिट्टी भी कंचन!

जीवन की हरी धरा पर
मैं हिम-कणएक अकिंचन!
निज अरुण किरण पहुँचाकर
करदो मुझको हीरक-कण

अवरुद्ध तमावृत जल की
मैं एक लहर चिर चंचल!
जीवन के शशी, छू मुझको
करदो न, शुचि, रजतोज्ज्वल

मैं अन्धकार रजनी का
जड़ता का जर्जर जीवन,
झंझा का झटका झोंका
मरु का भीषण सूनापन!

हा, एक प्रात तो ला दो
मेरे मरु में भी, प्रियवर—
रसमय वसन्त कुसुमाकर,
मलयानिल, मधु, कोकिल-स्वर!

कुसुमों की वर्षा कर दो,
करदो वसुधा हरियाली,
कर नष्ट-भ्रष्ट जीवन-तम
फैला दो मंगल लाली!

देखो, याचक को निष्फल
लौटाओ मत, हे दानी!
फिर काँप उठोगे सुनकर
मेरी चिर करुण - कहानी!

बीकानेर
५ अक्टूबर ४५

अहर्निश

१

निज प्रेमपूर्ण उज्ज्वल मन का
पावन प्रकाश भू-मण्डल पर—
जन-जन तक फैलाने के हित
यह जीवन है सुन्दर अवसर !

२

मंगलमय उच्चादर्शों में—
रखकर अपना विश्वास अमर
धरती को स्वर्ग बनाने का
यह जीवन है सुन्दर अवसर !

३

अपने मन का सब कुछ सुन्दर
जीवन-धन के चरणों पर धर—
अस्तित्व सफल करने को निज,
यह जीवन है सुन्दर अवसर !

४

मंगल भावों की ज्योति-भरी
ले हृदय-आरती चिर सुन्दर—
घटघटवासी की पूजा का
यह जीवन है सुन्दर अवसर !

५

ले पुण्य प्रकाशामृत-पूरित
अपनी आत्मा की ज्योति मधुर
विश्वात्मा में लय होने का
यह जीवन है सुन्दर अवसर।

उदयपुर
१९४६

आनन्दानुभूति

१

इस भूमण्डल पर फैली
सुन्दर छवियों में मोहन—
स्वर्गिक विभूतियों का कर
अनुरंजनकारी दर्शन—

२

मन में प्रभु की महिमा की
भावना मधुर भर जाती
अज्ञात प्रेरणा मन को
सुख से विह्वल कर जाती !

३

कंठों में भरता गुंजन
जग जाती नव-नव आशा,
गाने लगता उर मुकुलित-
आमों में कोकिल का सा !

४

उस क्षण हो जाते तन-मन
आनन्दमग्न हो ऐसे—
कुसुमित शिरीष तरु प्रातः
सुकुमार पवन में जैसे !

बीकानेर
२६-२-४६

वञ्चना

कल्पना-भ्रमरी मेरी लोल
भटक कर नित निशि दिन अविराम
सिन्धु, अवनी, अम्बर तक और
स्वर्ग के कुंजों तक छवि-धाम—

२

थकित लघु पाँखों से वह दीन
लौट कर आती हत-चैतन्य—
अमर संजीवन के दो बूँद
प्राण को लाकर देती धन्य!

३

चेतना का होता संचार
हृदय कर उठता मृदु गुंजार,
पवन बहता मधुमय सुकुमार,
बरसती सुख की मधुर फुहार!

४

वंचना! निष्ठुर-क्रीड़ा! आह,
दीप की अन्तिम नीली बिन्दु—
तिमिर के उर में कैसे आह,
प्रभंजन से खेले सानन्द!

५

त्वरित ही सुख के लघु उद्गार
निराशा-तम में पाते त्राण—
सान्ध्य खग के अन्तिम स्वर क्षीण
निशा-तम में ज्यों डूब अजान!

काशी
७-२-४४

मेरा मन

१

कितने प्रयत्न से मन को
मैं उठा-उठा रखता, पर—
नयनों से बरबस गिरते
आँसू-सा यह पड़ता गिर !

२

मैं इसे पिला कर मधु-रस
खिलते प्रभात कुसुमों का—
मलयानिल में बहलाता,
पर यह न समझता क्षण भर !

३

उठ कर नव-घन सा नभ में
कुछ क्षण तो उड़ता गर्वित,
पर, लख पीड़ित इस जग को
झर पड़ता दुख से जर्जर !

४

यह जी भर कभी न हँसता
रोता न कभी जी भर है,
केवल निशीथ दीपक-सा
जलता रहता चुप निष्ठुर !

५

वर्षा में दूर क्षितिज पर
धीमी बिजली चमकाती—
जल भरी करुण बदली-सा
गरजा करता रह-रह कर !

६

यह नहीं समझता कितना
है अभी शेष जीवन-पथ,
दुलर्लित हठी बच्चे-सा
पथ पर गिर जाता थक कर !

७

उठ रही भयंकर आँधी
उठ रहे घुमड़ते बादल !
यह साथ कहाँ तक देगा
जीवथ प्रसस्त-पथ पर चल !

काशी
१२-२-४४

सुख-दुख

जग कर न सका रह कर अविचल,
उन घोर दुखों का भार-वहन—
तन जर्जर कर, आत्मा का भी
जो कर लेते आलोक-हरण !

सम सुख-दुख के ही 'स्निग्ध मधुर'
सुकुमार पवन में जल अविरल—
जीवन की सुन्दर दीप-शिखा
देगी प्रकाश जग को मंगल।

अति ! यह जीवन का निष्ठुर क्रम !
समभाव ! इसी में सुख अनन्त !
सम शीत ताप में ही आता—
फूलों का मुसकाता वसन्त !

फूलों के खिलने को वांछित—
समुचित प्रकाश, जल, और पवन,
अति या अभाव दोनों होंगे
उनके विनाश के ही कारण।

स्वाभाविक सुख-दुख—शीत-घाम !
दोनों से धरती रस लेती,
अति से न, सहज सुख-दुख में ही,
पकती है जीवन की खेती।

मन की हंसिनि सुख-सरसी में
पा कमल-कली पुलकित होती
दुख-सागर में भी मिलते है
जीवन के चमकीले मोती !

जीवन तो है मधुमय शतदल
जग की पुष्करिणी में सुन्दर,
प्रभु का प्रकाश पा कर खिलता
देने जग को रँग-रूप अमर।

बीकानेर
अक्टूबर, ४५

पुकार

१

घुमड़ रहे घन, फैला सम्मुख
काला सिन्धु अपार !
उमड़ रहीं काली तूफ़ानी
लहरें भीमाकार !

२

अन्धकार ! कुछ नहीं सूझता
लुप्त हुआ हा, कूल,
जलचर हिंस्र, विकम्पित तरणी,
झंझा भी प्रतिकूल !

३

पहुँचाओ उज्ज्वल प्रकाश की—
एक किरण, हे नाथ !
दौड़ो ! दौड़ो !! पकड़ो मेरे
कम्पित दुर्बल हाथ !

जोधपुर
जून, ४

संघर्ष-पथ पर

जब नाव जल में छोड़ दी,
तूफ़ान में ही मोड़ दी,
दे दी चुनौती सिन्धु को, फिर पार क्या! मँझधार क्या!

कह मृत्यु को वरदान ही,
मरना लिया जब ठान ही,
रण को किया प्रस्थान ही, फिर जीत क्या, फिर हार क्या!

जब छोड़ सुख की कामना,
आरम्भ कर दी साधना,
संघर्ष-पथ पर बढ़ चले, फिर फूल क्या, अंगार क्या!

संसार का पी-पी गरल—
जब कर लिया मन को सरल,
भगवान् शंकर हो गये, फिर राख क्या, शृङ्गार क्या!

अक्टूबर' ४७

अनुग्रह

१

अन्तर्ज्वाला में तपा-तपा
मुझको प्रति-पल, हे जीवन-धन,
मिट्टी की मेरी काया को
तुमने यों कर दी है कंचन—
यह प्यार तुम्हारा है कितना !

२

अव्यक्त व्यथा से बेध, सखे
भावों से पूरित मेरा मन—
कर डाला तुमने पूजा की
माला का मुझको एक सुमन—
उपकार तुम्हारा है कितना !

३

तुम उठ उठ बन हिल्लोल प्रबल
मेरे तट करते भग्न सकल,
भर डाला जीवन-कूलों को
कुसुमित हरियाली से श्यामल—
आभार तुम्हारा है कितना !

अक्टूबर' ४७

चिन्तन

मैं सोचा करता हूँ निशि-दिन—
मानव-मन के सर्वोच्च अमर
आदर्शों के नव शिखरों पर
क्या पहुँच सकेगा पार्थिव नर—
सह पग-पग पर निष्ठुर बन्धन
शत आधि-व्याधियाँ, दुःख, मरण !—
वे शिखर—सुनहले, कुसुमित जो
हैं तुंग, दूरतम, अति उज्ज्वल
हैं लुप्त गहन जीवन-नभ में,
पाते रवि, शशि की ज्योति विमल,
जिन पर प्रकाश की सर्व प्रथम—
किरणें ढलती हैं नव स्वर्णिल,
जो चिर असीम औ सीमित के
बनते अनन्त चुम्बन शीतल !
वे शिखर—बरसते प्रथम जहाँ
शाश्वत सुख के श्यामल जलधर,
जिनसे झरते रहते कल-कल
आनन्द, प्रेम के मधु-निर्झर,
जिन पर आरोहण करने को
मानव-समाज था नित तत्पर—

पर, जूझ मार्ग के हिम वर्षा
आतप, झंझा से, वह थक कर
संघर्षों के पथ पर ही रे
गिर गया अनेकों युग गिन-गिन,
मैं सोचा करता हूँ निशि-दिन !

काशी
फ़रवरी', ४४

जिज्ञासा

क्या जीवन आनन्द-अवधि है ?
इच्छा का मञ्जुल नर्त्तन है ?
मधु - वसन्त - चन्द्रिका - विचुम्बित–
जल-तरंग का मृदु कम्पन है ?
निठुर नियति - प्रत्यंचा पर से—
छुटे भयंकर अग्नि - वाण - सा
मरण - तिमिर को चीर जा रहा
या वह, पथ में नहीं त्राण पा !

काशी

अमर टेक

१

तप विश्व-वेदना में निशि-दिन
जीवन का स्वर कवि गाता है,
सुन्दरता का ले स्वप्न मधुर
धरती पर स्वर्ग बसाता है,
जड़ता के घोर उपासक जन
उसके इस तप को क्या समझें!
वह जग के भीषण मरु-धर में
मधु-रस की धार बहाता है!
'कल्पना-लोक का प्राणी' कह
जग ने न उपेक्षा की थोड़ी!
पर उसने मधुमय भावों का
संसार बसाना कब छोड़ा!

२

वह फूल—कि जिसने लतिका के
स्नेहांचल में सीखा खिलना,
पंथी के पग नीचे जिसको
मिट्टी में पड़ता है मिलना
निर्दय माली भी सूई से
हर लेता जिसके प्राणों को,
अपनी डाली के काँटों से भी
जिसको है पड़ता छिलना.
मुख पर पतझड़ की झंझा
जो लाख थपेड़े सहता है
पर उसने अपने प्राणों
मधुकण बिखराना कब छोड़ा

३

सह वर्षा की भीषण झड़ियाँ
शत् शत् बिजली से पिट पिट कर—
देखो वह गर्वोन्नत पर्वत
है खड़ा हुआ बन कर पत्थर।
युग-युग से रवि ने तप्त किया,
कितने प्रचण्डतम गाज गिरे,
उद्दण्ड अंधड़ों ने उसको
कुचला दे दे लाखों ठोकर

सह घोर यन्त्रणाएँ उसका
हो गया कलेजा पत्थर, पर—
उसने निज उर से निर्झर की
मधु धार बहाना कब छोड़ा!

४

लेकर तूफ़ानी वेग प्रखर
सावन की सरिता उमड़ाती।
भैरव गर्जन करती तट के
तरु तोड़ बहा कर ले जाती!
कह कौन सके, बोलो, उसके
अत्याचारों की अकथ कथा,
निष्ठुर प्रहार कर तीरों की
क्षत विक्षत कर जाती छाती!
विप्लव के अत्याचारों को
सह कर भी उस सरिता-तट ने—
लहराती हरियाली के मिस
हँस हँस हर्षाना कब छोड़ा!

५

लख स्वर्णिल सुन्दर दीप-शिखा
वह बाल-पतिंगा उड़ आता,
सुन्दरता की उस वेदी पर
अन्धा हो जल कर मर जाता!
सन्ध्या के मुँदते कमलों में—
बन्दी हो जाता स्वयं भ्रमर!
हा, वह अबोध मृदु पँखुरी के
क्यों डंक लगा न निकल आता!
जग ने इसको अविवेक कहा
पर रीत प्रीत की न्यारी है!
तज मोह प्राण का प्रिय के हित
प्रेमी ने मिटना कब छोड़ा!

तू अपने पथ पर बढ़ता चल

तू अपने पथ पर बढ़ता चल।
अन्धकारमय है तेरा पथ,
पर, बढ़ने ही दे जीवन-रथ,
अग्नि-बाण बन छूट पड़ा तू, सघन चीरता तम को श्यामल—
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।
मन में अमर प्रकाश लिये चल,
अटल आत्म-विश्वास लिये चल,
सतत काटता चल डाँडों से तू अथाह भव-सागर का जल,
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।
एक साधना है यह जीवन,
मिट्टी से बनना है कंचन,
पूजा के पावन दीपक की शान्त शिखा सा जल तू प्रतिपल,
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।
मिट जाना ही तो जीवन है,
मरण, सृष्टि का प्रथम चरण है,
अरे अमर, तू मर न सकेगा बीज रूप बन धरती में गल,
तू, अपने पथ पर बढ़ता चल।
बढ़ता चल निज वेणु बजाता,
अपने डाँड घुमाता, गाता,
सिन्धु-तरंगों से टकराता अपना लोहे का वक्षस्थल—
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।

तू समुद्र से भी महान् है।
तू विद्युत् सा प्राणवान् है,
तेरी गति को रोक सकेगा कौन? भरा किसमें इतना बल?
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।

अपने दुख की करुण कहानी,
मत कह भर नयनों में पानी,
याद पुरानी बातें कर तू मत अपने मन को कर दुर्बल,
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।

सब को कह निज कथा व्यथामय,
दीर्घ साधना का मत कर क्षय!
हृदय परखता कौन यहाँ? तू मन का कोष लुटा मत निष्फल
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।

आग दबा अपनी छाती में,
जीवन-ज्योति लिये बाती में,
सुंदर करता चल निज छवि से दीन मृत्यु का काला अंचल,
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।

बढ़ता ही चल, हे मृत्युञ्जय,
वह प्रदेश आवेगा निश्चय,
जहाँ विचरते मुक्त रात दिन चन्द्र, सूर्य्य, तारागण उज्ज्वल,
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।

हृदय जहाँ पर नहीं झुलसते,
जहाँ न कपटी विषधर डसते,
जहाँ सुधा के मेघ बरसते होता उर का विनिमय निश्छल,
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।

चल ?

कर विश्वास-घात निज प्रियजन,
जहाँ न रहते प्राण कुटिल बन,
नहीं मृत्यु-भय से जीवित ही प्राणी जलते रहते प्रति-पल,
तू अपने पथ पर बढ़ता चल।

विद्या भवन
उदयपुर
मार्च ४७

●

मेरा जीवन

गिरि - पथ सा है मेरा जीवन।
अन्ध गहनतम खड्ड भयंकर,
चट्टाने, कंकड़, कटु पत्थर,
चारों ओर दिखाई देते बस ये ही उस पथ पर निर्जन।
गिरि - पथ सा है मेरा जीवन।
वहाँ न कोकिल का पंचम स्वर!
केवल झंझाघात कठिनतर
अन्तरिक्ष के नीचे नीरव बीहड़ वन, भीषण सूनापन!
गिरि - पथ सा है मेरा जीवन।
किन्तु, प्यार की धारा निर्मल
वहाँ एक बहती है कलकल—
कठिन शिला खण्डों में टकरा गुंजारित करती-सी कानन!
गिरि - पथ सा है मेरा जीवन!

बीकानेर
मार्च ४६

भीषण मौन

मैं हलाहल पी रहा हूँ।
चिर व्यथा से मूक होकर
मैं खड़ा ज्वालामुखी बन–
आ गया है पास ही जिसके
प्रबल विस्फोट का क्षण!
मैं भयंकर आग छाती में दबा कर जी रहा हूँ।
मैं हलाहल पी रहा हूँ।

सतत खेते नाव, दोनों—
हाथ मेरे कट चुके हैं,
आँधियों में पोत जीवन—
नाव के सब फट चुके हैं।
सी रहा हूँ मैं इन्हें पर सिन्धु से लड़ भी रहा हूँ!
मैं हलाहल पी रहा हूँ।

आज मेरी लौह छाती में
भरी है आग कितनी,
सिन्धु में भी हो नहीं सकती
कभी वड़वाग्नि इतनी,
रात दिन मैं शाप को वरदान कह कर जी रहा हूँ।
मैं हलाहल पी रहा हूँ।

नेत्र मैंने झँप लिये हैं,
ओठ पर प्याला लिये हूँ,
कंठ नीले पड़ रहे हैं
मूक निज जिह्वा किये हूँ,
अंग सारे जल रहे हैं किन्तु मुसका ही रहा हूँ।
मैं हलाहल पी रहा हूँ।

उदयपुर
मार्च ४७

दीपावलि अभिनंदन

नव वर्ष तुम्हें मंगलमय हो!

इन नव नव दीपों की पावन
स्वर्णिल-लाली से मन-भावन—
हे मित्र, तुम्हारे जीवन का तममय पथ सब ज्योतिर्मय हो।
नव वर्ष तुम्हें मंगलमय हो!

* * *

हो जायँ तुम्हारे शूल भरे—
जीवन-पथ सारे फूल-भरे।
संसार-समर में पग-पग पर हे मित्र, तुम्हारी नित जय हो!
नव वर्ष तुम्हें मंगलमय हो!

* * *

हों पूर्ण तुम्हारी आशाएँ,
हों पूर्ण सकल अभिलाषाएँ,
हों पूर्ण तुम्हारे सब सपनें, सब पूर्ण तुम्हारे निश्चय हों!
नव वर्ष तुम्हें मंगलमय हो!

नवम्बर' ४७

खेल

"निष्फल हैं अपने सब प्रयत्न। निष्फल हैं अपने सब प्रयत्न
आशा-अभिलाषा का बरबस हो जाता रे सुख-स्वप्न भग्न !!!"-
तो क्या यों नित रो-रो कर हम, तज दें जीवन का मधुर खेल
कायर होकर हम भाग चलें इस सृष्टि-यन्त्र से तोड़ मेल

छिः, नहीं ! बने हम बच्चों से, निर्भय, प्रसन्न, हँस-मुख, सुन्दर-
जो जुटते हैं सानन्द सदा सन्ध्या को सागर के तट पर
रचते बालू के भवन रुचिर अपना कौशल बल-बुद्धि लगा
बन सकल परस्पर सहयोगी, भावी अनिष्ट का ध्यान न ला—

यद्यपि उद्दाम तुरंगों-सी वे रणोन्मत्त-सी गर्वीली
बैंगनी सिन्धु की तुंग प्रबल फेनिल लहरें नीली नीली—
आ-आ कर प्रति क्षण उमड़ घुमड़ उनकी कृतियों को धो देतीं
उनका सारा श्रम निष्फल कर, कर देतीं हैं समतल रेती।

पर, उल्लासित गद्गद हो वे जीवन के सच्चे कलाकार
सब कर करतल-ध्वनि हर्ष-भरी हँस देते लख सागर अपार,
खिलखिला सभी पड़ते सहसा अपनी प्रस्तुत निष्फलता पर
नव-निश्चय कर फिर जुट जाते रचने कृति अधिकाधिक सुन्दर।

या सृजन किया हँसते-हँसते, देखा विनाश हँसते-हँसते।
वे धन्य ! अलौकिक वे शिल्पी करते प्रयोग हँसते-हँसते।
क्या छोड़ सिन्धु-तट चल देते वे समझ विश्व कोरा सपना ?
लख कर विनाश का निष्ठुर क्रम निर्माण छोड़ देते अपना ?

बस एक सफलता पर गाना, रो पड़ता झट निष्फलता पर,
सचमुच यह तो है नीति नहीं सच्चे खिलाड़ियों की सुन्दर !
इस निखिल सृष्टि के जीवन का स्वाभाविक क्रम है प्रलय-सृजन,
है विजय-पराजय स्वाभाविक, क्या होगा बिखरा आँसू-कण !

हम सब ईश्वर के बच्चे हैं ले-ले कर दृग में निज सपने—
जीवन की अस्थिर बालू पर रच रहे घरौंदे हम अपने।
हम खेल रहे हैं लहरों से निर्बाध-मरण-सागर-तट पर,
हम सृष्टि-मुकुट हैं—मानव हैं, मानें न पराजय

आँसू

यह आँसू रस-मय कितना है !

मेरे मन में भाव मनोरम,
भरे हुए हैं जो सुन्दरतम,
शब्दातीत, गहन अति अनुपम,
व्यक्त उन्हीं को करने के हित यह मेरे मन की रसना है !
यह आँसू रस-मय कितना है !

मधु-प्लावित, गद्गद, कल्याणी,
आत्मा की यह तुतली वाणी,
अन्तरतम की करुण कहानी,
विधि का भी अधिकार नहीं, यह तो मेरी मौलिक रचना है !
यह आँसू रस-मय कितना है !

सत्य हृदय का यह कोमल बल,
हृदय हरा रखने वाला जल,
निस्सम्बल प्राणों का सम्बल,
इस खारे कण में त्रिभुवन के मधुरामृत का सार छना है !
यह आँसू रस-मय कितना है !

इसको कहीं काल का डर है ?
मैं नश्वर ! यह जग नश्वर है !
पर इसका अस्तित्व अमर है !
अटल सत्य है यह, जब कह दूँ—'जग जीवन कोरा सपना है !'
यह आँसू रस-मय कितना है !

करुणा की कोमल काया है!
ताजमहल इसकी छाया है!
युग-युग से बहता आया है!
इसकी नींव बना कर ही तो विधि का यह संसार बना है!
यह आँसू रस-मय कितना है!

अखिल जगत् का सहज मित्र है,
अमर कला का अमर चित्र है,
भगवति गंगा-सा पवित्र है,
निखर हृदय में, मधुर भावना-अंचल में यह बहुत छना है!
यह आँसू रस-मय कितना है!

जीवन आलोकित करता सा,
अन्तरतम का मल हरता सा,
मन में नूतन बल भरता सा,
आता कैसा दुलराता सा, स्नेह भरा इसमें कितना है!
यह आँसू रस-मय कितना है!

काशी हिन्दू विश्व-विद्यालय,
सितम्बर, '३६

१९

वे मृदु मन्द पवन के झोंके
धवल चाँदनी में बहते—
अब भी जैसे मेरे तन को
आ कर सिहराते रहते !

२०

बैठी होगी क्या जीजी, तुम
कहीं किसी छाया-वन में !
अपने भाई की चिन्ता में
हो उदास गहरी मन में !

२१

आह, आज मैं घंटों भी यदि
बैठा रहता हुआ उदास—
मुझे न जीजी, अब कोई भी
पुचका कर लेता है पास !

२२

तुम-सा कोई नहीं रहा जो
देख मुझे चिंतित, दो पल
दुख हर दे जलते सिर पर दे
फेर हाथ अपना कोमल !

२३

मेरे गालों पर न बरसता
अब चुम्बन का मेह कहीं !
धन मिलता है, यश मिलता है,
पर मिलता है स्नेह नहीं !

२४

आह बहिन, दुर्वह है जीवन !
पल भर भी विश्राम नहीं !
इस लम्बी चौड़ी दुनियाँ में
कहीं स्नेह का नाम नहीं !

२५

अब तक मुझको दिखा जगत में
बिना स्वार्थ के प्यार नहीं,
बिना द्रव्य ही प्यार टिक सके
यह ऐसा संसार नहीं !

२६

मधुर तुम्हारे स्नेह-पाश थे
प्यार-भरे कोमल कर थे !
निर्धनता में भी बचपन के
दिन वे कितने सुन्दर थे !

२७

जीजी, जब भी आ जाती है
मुझे तुम्हारी मीठी याद—
घनी उदासी से भर जाता
तभी हृदय मेरा सविषाद !

२८

प्रायः मटमैली साँझों में
खिड़की से लख कर तारा—
होकर खिन्न किया करता हूँ
याद तुम्हारा मुख प्यारा !

बहुतार

२६

आह, बहिन मुझको धरती पर
तज तुम सहसा चली गईं!
इस धोखे की नगरी में
तुम क्रूर काल से छली गईं!

३०

हाथ तुम्हारे हल्दी से
पीले होने ही वाले थे!
कौन जानता था पर, ऊपर
मेघ घिर रहे काले थे!

३१

कितना निर्मम है विधि रे,
कितना निर्मम उसका व्यवहार!
वह न समझता किसके मन में
किसके प्रति है कितना प्यार?

३२

आह, विधाता हमें दिखाता
क्या यह छवि-मय संसार!—
मानों हमको पराधीन कर—
लेता, दे जीवन-पल चार।

३३

...सा भी है यह जग पर हा,
इसमें रहना ही होगा!
काल प्रबल की धारा में
लघु तिनके सा बहाना होगा!

३४

माँ के संग स्वर्गंगा के तट
प्रायः तुम आती होगी,
भैया को जलती नगरी में
देख लौट जाती होगी!

३५

मुझे बुलाती होगी तुम हा
तारों में निज बाँह पसार!
मन मसोस रह जाती होगी
गहन नील अम्बर के पार!

३६

आज न तुम हो ही धरती पर
और न हो ही सपनों में,
पर, भटका ही करता है मन
दुख में रह-रह अपनों में।

गाँव की साँझ

आमों के कुंजों में ढलते सिन्दूरी सूरज की लाली,
गेहूँ के श्यामल खेतों पर फैल गई नव शोभाशाली।

मन्द-मन्द वह रहा उनींदा-सा सायंकालीन समीरण,
मीठी सान्ध्य-शान्ति में सारा ग्राम-प्रान्त डूबा मनमोहन।
उधर, दूर उन अमरूदों औ' बेरों के श्यामल कुंजों में,
कूज रहे हैं जहाँ विहग-दल बँट बँट कर लघु गुरु पुँजों में—

लाली से पड़ गये सुनहले पश्चिम नभ के सारे बादल,
जिनका तट हो रहा दमक कर कंचन की बिजली-सा मंजुल।
अरुण बिम्ब को छिपा ओट में दूर द्रुमों में वह लघु पक्षी—
खोज रहा हो कर उदास-सा कुछ रहस्य-गाथा जीवन की!

यन्त्रालय की धूम्र-नालिका से धूएँ की धारा श्यामल—
गन्नों के खेतों के आगे बहुत दूर है बहती अविरल!
पांशुल ग्राम-पथों से गाएँ मृदुल सुनहली धूल उड़ाती—
चली आ रहीं स्नेह-विकल सी पूँछ हिलाती, खुर रगड़ाती!

लौट रहे निज झोंपड़ियों को अर्ध-नग्न दीनों के बच्चे—
खेल रहे थे दिन भर जो अति सुखद धूप में खा फल कच्चे।
निकट कूप पर मुक्त कंठ से चहक रही है चिड़िया काली।
लौट रही पनघट से गगरी भर कर ग्राम - वधू मतवाली।

हरी क्यारियों में धनिये की मधुर गन्ध उठ रही मनोहर,
लौट रहा हल-बैल लिये निज कृषक खेत से, दिन भर श्रम कर।
नीबू नारंगी के पेड़ों पर से गुंजन - लीन विहग दल,
बैल-घंटिका-ध्वनि सुन भागा हिलती छोड़ टहनियाँ कोमल।

तरकारी की हरी बाड़ियाँ सजी हुई हैं हो कर जल-मय,
उनकी गहरी हरियाली से पवन हो रहा शीतल अतिशय।
इस अहीर के घर के पीछे बाँसों के झुरमुट में खग दल—
कूज रहा अस्ताचलगामी सूरज की लाली में कोमल।

ग्रीवा में दे ग्रीवा अपनी निज मां को जिह्वा से मल-मल,
दुग्ध-धवल, गौरांगी बछिया चटा रही तन अपना रोमिल।
कटहल के पेड़ों के नीचे करता है ग्वाला गौदोहन,
खेल रहा है धूलि - धूसरित अर्धनग्न उसका शिशु शोभन।

शक्ति का सौन्दर्य्य-स्वप्न

(जीवन में प्रथम बार मद्रास में समुद्र का दर्शन करने पर

ए श्याम-नील गर्जनकारी चंचल दिगन्त – व्यापी समुद्र
इस निर्जन में क्यों गरज रहे धारण कर ऐसा रूप रुद्र
इस महानील नभ के नीचे निशि-दिन तुम हे जलनिधि अपार
क्यों करते हाहाकार विपुल अन्तर्पीड़ा का लिये भार

चिर मर्म व्यथा से पीड़ित - से जीवन की लेकर विकट हार
आ आ कर पांशुल तट से क्यों टकराते निज सिर बार-बार
मानव-जग के देखे तुमने अब तक कितने उत्थान-पतन
कितनी सदियाँ आ लौट गई तेरी लहरों पर कर नर्त्तन

कितनी अशांति के चंचल युग, सुख और शांति के स्वर्ण-काल—
तव पृथुल लहरियों पर चढ़-गिर हो गये पार, सागर विशाल !
कितने इतिहास उलीच रहीं, हे सिन्धु, तुम्हारी उथल-पुथल !
लहराता तुंग तरंगों में कितना अनन्त जीवन व्याकुल !

अविराम तुम्हारी ये लहरें करती-सी भीषण आन्दोलन—
किस स्वप्न-देश से आ आ कर दे रहीं मधुर सन्देश गहन ?
धूमिल दिगन्त की रेखा के उस पार छिपा क्या है, बोलो !
जिस पथ से तुम आते उस पर संसार छिपा क्या है, बोलो !

नीले अम्बर के नीचे इस नीले प्रसार पर से अथाह—
किस स्वप्न - देश को जाती है तेरी रहस्यमय गूढ़ राह ?
अपने अथाह अन्तस्तल में शत कोटि छिपा धूमिल रहस्य—
सपनों का सा आवरण ओढ़ तुम लपक रहे किस पथ अदृश्य ?

तुम कौन ? कहो, हे महिमामय ! ले कर अशान्त-सा अन्तराल—
बन हृदय प्रकृति के धड़क रहे इस अन्तरिक्ष नीचे विशाल !
मानव-उर के क्रन्दन, ज्वाला, पीड़ा, आघातों के अनूप—
युग-युग संचित, हे सिन्धु कहो, क्या तुम हो पुंजीभूत रूप ?
इस ऊहापोह भरे जग के भीषण जघन्य व्यापारों को,
मानव के प्रति मानव के ही निर्दय नृशंस व्यवहारों को—
तुम देख-देख निज नयनों से हो उद्वेलित, विक्षुब्ध, विमन—
निरुपाय हुए-से करते हो निष्फल मार्मिक करुण-क्रन्दन !
या घोर अनीश्वरवादी इस निष्ठुर जग की गति को लख कर—
कर रहे घोषणा तुम निर्भय, "है है ईश्वर, है है ईश्वर !
उद्वेलित फेनोच्छ्वसित प्रबल चंचल हहराती शत सहस्र—
उत्ताल तरंगों की पृथु-पृथु इन जिह्वाओं से निज अजस्र—
उस शक्तिनाथ की सत्ता का गाते हो शाश्वत विजय-गान—
उस चिर रहस्य की प्रतिमा का करते उद्घाटन, शक्तिवान् !
तरल-तरंगित जलधि कहो, तुम किसकी महिमा के प्रतीक ?
तुम किसकी सत्ता के प्रतिनिधि ? किस अजर अमर की अमिट लीक ?

क्या साक्ष्य भर रहे तुम उसकी जो है अनादि जो है अनन्त !
जिससे पा कर गति नियमित-सी कर रहे नृत्य पावस वसन्त !
जिसके शासन में डोल रहे ये सूर्य्य, चन्द्रमा, तारागण,
जिसकी दासी बन निखिल प्रकृति करती रहती निशि-दिन नर्त्तन !
जो पंचतत्त्व में समा रहा बन अग्नि देवता, इन्द्र, वरुण,
जिसके भ्रू-संचालन भर से चल रहे सृष्टि में जन्म-मरण।
प्रज्वलित हो रही कण-कण में जिसके प्रकाश की दिव्य ज्योति,
ज्यों काष्ठ अग्नि में, त्यों जिससे संसृति का कण-कण ओतप्रोत।
जो अरुण पद्म-सा खिल पड़ता कर नष्ट तिमिर को प्रति प्रभात,
यह सृष्टि-सुंदरी नाच रही जिसके प्रकाश से सजा गात।
गिरिराज हिमालय क्षुद्र नाप सकता न कभी जिसका महत्त्व,
सम्बोधित करती है श्रुतियाँ उपनिषद् जिसे कह अमर तत्त्व।

दो नेत्र चन्द्र-सूरज जिसके, ज्योतित जिससे तारामंडल,
कण-कण सम्पूर्ण धरित्री का करता स्पन्दन ले जिसका बल।
भर महाप्रलय के डग चलता साँसों में ले उनचास पवन,
पद-चिह्न काल-सिकता पर कल्पों के रखता चलता, छवि-घन।

हैं सकल चराचर दौड़ रहे कर निज जीवन-लीला समाप्त—
जिसके चरणों की ओर मृदुल करने अन्तिम विश्राम प्राप्त।
जल, थल, नभ, अग्नि, पवन में जो है समा रहा बन विश्व-प्राण।
दे रहा चराचर भूतों को जो दिव्य ज्योति का मधुर दान।

जो नित अनन्त ब्रह्माण्डों में अविश्रान्त कर रहा परिभ्रमण,
जिस परब्रह्म में करता है संचरण चराचर का जीवन।
कण-कण को जीवन-तत्त्व मधुर दे रहा बढ़ा निज वरद हाथ।
धरती को क्रीड़ा-कन्दुक निज कर खेल रहा जो शक्तिनाथ।

क्या उस महिमामय अजर अमर ईश्वर की महिमा का अपार,
कर रहे युगों से तुम निशि-दिन यों अवनी-अम्बर में प्रचार?
हे शक्तितरंगाकुल सागर, हे चिर स्वतन्त्र, हे उच्छृंखल,
उद्दाम तुम्हारी गति लख कर निर्बल मन में भर आता बल।

लख तव रहस्यमय लहराता विस्मयकारी विस्तार गहन,
प्रत्येक लहर में बिजली की बलवती प्रेरणा का स्पन्दन—
हो रहा हृदय मेरा बरबस अज्ञात दिव्य प्रेरणाधीन—
गम्भीर, अलौकिक शक्तिमती सौन्दर्य-शक्ति-अनुभूति-लीन!

लख अतुल-शक्ति का स्वप्न मधुर रोमांचों से लद रही देह!
है बरस रहा मानो उर पर भावों का झंझामुक्त मेह!
चंचलोत्तुंग हिल्लोलों की गति, बल, उमंग का क्षुद्र अंश—
मुझको भी दान करो सागर, मैं शोषक जग का करूँ ध्वंस।

भर दो तन में बल, स्फूर्ति, शौर्य, प्राणों में विद्युत-वेग प्रखर—
दे अपना महिमामय विचरण, मुझको निज-सा कर दो सागर!
मैं हो स्वतन्त्र विचरूँ भू पर, निर्भीक, मरण का तज कर भय,
हो शक्ति-तरंगों से स्पन्दित सुदृढ़, बलिष्ठतम वज्र-हृदय!

नस-नस में ले पौरुष अपार मैं जिऊँ विश्व में रह अजेय,
झंझा सा दुर्दमनीय वना, खोजूँ जीवन का परम श्रेय!
वन पवन-पुत्र सा, वज्र-अंग, हो विज्जु-वेग से प्राणवान्,
मैं नष्ट-भ्रष्ट कर दूँ जग का सारा तम वन कर अग्नि-वाण!

मैं मृत्युंजय वन मृत जग को जाग्रत कर दूँ कर शंख-नाद,
नित गर्वोन्नत-सा लहराऊँ अपनी ही महिमा में अगाध!
हा! परम क्षुद्र मेरा जीवन! शृंखला-बद्ध मैं लघु विहंग!
हो रहे मुक्ति-संघर्षों में शोणित से लथपथ अंग-अंग!

ज्योतिर्मय रवि-शशि तारों का पाने को शाश्वत मधुर संग—
मैं उड़ू तोड़ पिंजर, मुझमें भरदो ऐसी विद्युत्-उमंग—
दो मुझे शक्ति! दो मुझे स्फूर्त्ति! स्वातन्त्र्य-भाव, पौरुष प्रचण्ड!
वन अटलव्रती मैं रहूँ खड़ा हो भीमकाय-सा शैल-खण्ड!

अथवा लहरों की तरणी पर वैठा मुझको, हे नील-वेश,
ले चलो वहाँ जगमग-ज्योतित है जहाँ ज्योति का स्वर्ण-देश!
नव प्रेम-उषा की लाली में नित जहाँ मनोहर नारी-नर—
स्वच्छन्द विहंगों से सुन्दर विचरण करते हैं अवनी पर!

जो ज्योति-पूर्ण जीवन-यापन करते हैं प्रमुदित सावकाश,
सस्मित प्रकाश-पथ पर वढ़ते ले कर हृदयों में नवोल्लास!
मैं महत्वांकाक्षा से पूरित प्रेमी आदर्शों का सुन्दर,
ले चलो ज्योति-पथ पर मुझको प्रभु में मेरा विश्वास अमर!

संसार

जन्म - मरण की सीमाओं के बीच विकट यह दुस्तर,
कुसुमकंटकाकीर्ण प्राणियों का व्यस्त निरन्तर!
सब कुछ है अज्ञात यहाँ पर, भीषण उथल पुथल है,
विस्मृति ही है यहाँ जागरण, हलचल ही हलचल है,
अन्धकार से औ' प्रकाश से कुछ उजला कुछ काला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला!

यहाँ विश्व - ज्वाला में सब को जलना ही पड़ता है,
साँझ हुए पर नत - मस्तक हो ढलना ही पड़ता है,
दीपक बन करना पड़ता है एक रात का डेरा,
मुक्ति नहीं मिल पाती जब तक होता नहीं सवेरा,
अपनी इच्छा गौण, नियति का शासन चलता काला,
इन्द्र - जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

दोनों - मुख - जलती लकड़ी में बंदी कीड़े से नित—
जलते रहते हैं जीवन भर यहाँ मनुज सन्तापित!
नीरव जलती हुई रुई से मन ही मन में जल - जल
मनोव्यथा को छिपा मनुज जीते हैं निष्ठुर प्रति पल!
आत्म - वंचना से जीते हैं ले छाती में छाला,
इन्द्र - जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

यहां ताप में जलते प्राणी सुख के लिये तरसते,
मृगतृष्णा में पड़ जीवन भर हो उद्भ्रान्त विचरते,
प्राणों की चिर तृषित चातकी रोती ही रहती है,
'पी' 'पी' करती-सी निशि-दिन निज करुण-कथा कहती है!
नहीं बरसता किन्तु कभी भी जल-कण स्वाँती वाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

चिर अतृप्ति में यहाँ विलखते पाओगे तुम प्राणी,
आँसू में ही सुन पाओगे दग्ध हृदय की वाणी,
बूँद-बूँद जीवन-रस पाने मनुज विकल श्रम करते,
शुष्क अस्थियाँ नोंच-नोंचकर श्वान चाटते जैसे,
यहाँ ओठ पर लगते ही छुट पड़ता भू पर प्याला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

लक्ष्य-हीन से, मनुज मरण-पर्यन्त कर्म करते है,
सुख के हित जीते हैं पर, दुख-भार लिये मरते हैं,
भाग-दौड़ मच रही एक, कैसी विचित्र हलचल है,
दौड़ रहा मानव का जीवन हो कर यों चंचल है—
अर्द्ध-निशा में जैसे गिरि-पथ का वरसाती नाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है, यह संसार निराला।

जग, सागर है; इसमें, असफल लाखों लहरें रोतीं।
तह में डोला करते लाखों, दिल के टूटे मोती।
हिंस्र जन्तु हैं, भँवर भरे हैं, पग-पग धोखा छल है,
सुन्दर वीचि-विलास, छिपा पर भीतर वड़वानल है।
लहरें भीषण! यहाँ न कोई हाथ पकड़ने वाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

आधि-व्याधि से यहाँ न कोई वचता, मरण अटल है,
न्याय या कि अन्याय, भाग्य से लड़ना वस निष्फल है,
विधि का वना विधान यहां पर चलता नित अविचल है,
और भाग्य ही वस मनुष्य का केवल अन्तिम वल है,
मनुज एक क्रीड़ा-कन्दुक! विधि ने है जिसे उछाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

संसार

जन्म - मरण की सीमाओं के बीच विकट यह दुस्तर,
कुसुमकंटकाकीर्ण प्राणियों का व्यस्त निरन्तर!
सब कुछ है अज्ञात यहाँ पर, भीषण उथल पुथल है,
विस्मृति ही है यहाँ जागरण, हलचल ही हलचल है,
अन्धकार से औ' प्रकाश से कुछ उजला कुछ काला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला!

यहाँ विश्व - ज्वाला में सब को जलना ही पड़ता है,
साँझ हुए पर नत - मस्तक हो ढलना ही पड़ता है,
दीपक बन करना पड़ता है एक रात का डेरा,
मुक्ति नहीं मिल पाती जब तक होता नहीं सवेरा,
अपनी इच्छा गौण, नियति का शासन चलता काला,
इन्द्र - जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

दोनों - मुख - जलती लकड़ी में बंदी कीड़े से नित—
जलते रहते हैं जीवन भर यहाँ मनुज सन्तापित!
नीरव जलती हुई रुई से मन ही मन में जल - जल
मनोव्यथा को छिपा मनुज जीते हैं निष्ठुर प्रति पल!
आत्म - बंचना से जीते हैं ले छाती में छाला,
इन्द्र - जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

यहां ताप में जलते प्राणी सुख के लिये तरसते,
मृगतृष्णा में पड़ जीवन भर हो उद्भ्रान्त विचरते,
प्राणों की चिर तृषित चातकी रोती ही रहती है,
'पी' 'पी' करती-सी-निशि-दिन निज करुण-कथा कहती है!
नहीं बरसता किन्तु कभी भी जल-कण स्वाँती वाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

चिर अतृप्ति में यहाँ बिलखते पाओगे तुम प्राणी,
आँसू में ही सुन पाओगे दग्ध हृदय की वाणी,
बूँद-बूँद जीवन-रस पाने मनुज विकल श्रम करते,
शुष्क अस्थियाँ नोंच-नोंचकर श्वान चाटते जैसे,
यहाँ ओठ पर लगते ही छुट पड़ता भू पर प्याला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

लक्ष्य-हीन से, मनुज मरण-पर्यन्त कर्म करते हैं,
सुख के हित जीते हैं पर, दुख-भार लिये मरते हैं,
भाग-दौड़ मच रही एक, कैसी विचित्र हलचल है,
दौड़ रहा मानव का जीवन हो कर यों चंचल है—
अर्द्ध-निशा में जैसे गिरि-पथ का बरसाती नाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है, यह संसार निराला।

जग, सागर है; इसमें, असफल लाखों लहरें रोतीं।
तह में डोला करते लाखों, दिल के टूटे मोती।
हिंस्र जन्तु हैं, भँवर भरे हैं, पग-पग धोखा छल है,
सुन्दर वीचि-विलास, छिपा पर भीतर बड़वानल है।
लहरें भीषण! यहाँ न कोई हाथ पकड़ने वाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

आधि-व्याधि से यहाँ न कोई बचता, मरण अटल है,
न्याय या कि अन्याय, भाग्य से लड़ना बस निष्फल है,
विधि का बना विधान यहां पर चलता नित अविचल है,
और भाग्य ही बस मनुष्य का केवल अन्तिम बल है,
मनुज एक क्रीड़ा-कन्दुक! विधि ने है जिसे उछाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

ऊपर उठना कठिन, यहां दुष्कर मन का संयम है,
पतन यहां अनिवार्य्य, रूप पर मिटना अटल नियम है,
चारों ओर भयंकर फैला जाल वासनाओं का,
रूपों का आकर्षण! हिम का पथ! आंधी का झोंका!
दीप-शिखा भी है, आंखें भी, शलभ हृदय मतवाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला'।

यहां दम्भ में डोल रहे सब ज्ञानी औ' अज्ञानी,
अलग नहीं कर पाता कोई यहां दूध से पानी,
अहंकार में डूब रहे से सब ही डोल रहे हैं,
अपनी अपनी लिये धारणा सब कुछ तौल रहे हैं,
यहां न कोई शुद्ध सत्य का सूर्य्य देखने वाला।
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

सम्प्रदाय, कुल, जाति, धर्म औ वर्ग, वर्ण के, नाना—
अन्धकार में यहां असम्भव है प्रकाश-पथ पाना!
नाना वाद-प्रवाद जटिल शत शत मत और मतान्तर—
कांटे बन कर फैल गये हैं सत्य-ज्योति के पथ पर,
यहां दम्भ ने उदयाचल-आलोक रुद्ध कर डाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है, यह संसार निराला।

क्या है इस जग में मानव का चार दिनों का जीवन!
महामृत्यु के स्वागत का मानों विराट आयोजन!
या विजली की एक एक मनोहर क्षणिक कौंध चिर चंचल—
दिखी कि फिर सघनान्धकार में त्वरित हो गई ओझल!
यौवन! चन्द्र-निशा का अस्थिर वंशी-स्वर मतवाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

जीवन में यौवन आता है, होता मधु का वर्षण,
खिलते फूल, कूकती कोकिल, बहता मलय-समीरण;
पर पतझड़ आ जाता, कलियाँ गिर हो जाती बासी;
ाज उठती है करुण - रागिनी, घिरती घोर उदासी,
मधुशाला के द्वार बन्द कर चल देती मधु-बाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

कहते हैं 'जग क्षण-भंगुर है, सब कुछ सपना है,
कल्पना है, माया है, बुद्बुद, मृग-तृष्णा है।"
कहते हैं, "जगत् मनोहर मधुमय नन्दन वन है,
की रातें होती हैं, और स्वर्ण के दिन हैं।"
कोई रोता, और पहनता है कोई जय-माला,
इन्द्र - जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

के प्रबल चक्र में विश्व दौड़ता जाता,
... धूल में खिला फूल कल पुनः धूल बन जाता,
बनते हैं साम्राज्य यहाँ रज से उठ रज में मिलने,
गल जाता है बीज यहाँ कल फिर गुलाब हो खिलने,
गोलमाल सा ही है सब कुछ यह मकड़ी का जाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

एक कल्पना लिये नयन में शिशु - सा भोला मानव—
बैठ रचा करता नित अपने बालू के घर अभिनव,
किन्तु नियति की अन्धी लहरें गरज गरज उमड़ातीं
उसके सब सुन्दर प्रयत्न को आ चौपट कर जातीं।
गरज रहा है सर्वनाश का सागर काला काला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

तिरासी

यहाँ गुलाबों में विषधर विकराल छिपा रहता है;
रूपवती मृदु काया में कंकाल छिपा रहता है,
दीपावलि-सा जगमग जगमग जो कुछ दिख पाता है,
उसमें छिप कर अन्धकार का सागर लहराता है,
यहाँ धधकती रहती धू-धू कर मरघट की ज्वाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

अरे यहाँ सब कुछ जलता है, जो कुछ है नश्वर है,
भीषण ज्वालाओं में करते क्रन्दन नारी-नर हैं,
तन जलता है, मन जलता है, रे जीवन जलता है,
धरती जलती, सागर जलता और गगन जलता है,
अरे जल रहा है यह देखो विश्व वेदना वाला,
इन्द्र-जाल सा फैल रहा है यह संसार निराला।

'प्रथम किरण' पर कुछ

विशिष्ट सम्मतियां

(आंशिक रूप में)

श्री कन्हैलाल सहल एम० ए० अध्यक्ष, हिन्दी-संस्कृत विभाग, विड़ला कालिज पिलानी (जयपुर) लिखते हैं :—

"श्री 'तरुण' जी के इस संग्रह को मैं रस पूर्वक देख गया। आप बड़े सहृदय और भावुक कवि हैं × × × × कल्पना और अनुभूति का सुन्दर सामञ्जस्य आपकी अधिकांश कविताओं में है। कुछ कविताएं भावना-प्रधान होने के कारण अत्यन्त मार्मिक बन पड़ी हैं। प्रकृति-वर्णन सम्बन्धी कविताओं में आपने संश्लिष्ट चित्रण द्वारा जो बिम्व-ग्रहण कराया है वह वास्तव में प्रशंसनीय है। छायावादी युग में आत्माभिव्यंजन के अतिरेक के कारण इस प्रकार का प्रकृति-वर्णन उपेक्षणीय ही बना रहा। आपकी इस प्रकार की कविताएं जहाँ एक अभाव को पूरा करती हैं वहाँ उनसे आपके प्रकृति-पर्यवेक्षण का भी परिचय मिलता है क्योंकि बिना सम्यक् पर्यवेक्षण के इस प्रकार के चित्र उपस्थित नहीं किये जा सकते। × × ×

मुझे आशा है कि आपकी कृतियों से हमारे साहित्य की श्री वृद्धि होगी।"

(२)

पं० कृष्णानन्द पन्त, ए० ए० हिन्दी-संस्कृत) एम० ओ० एल० साहित्याचार्य अध्यक्ष, हिन्दी विभाग, मेरठ कॉलिज, मेरठ लिखते हैं :—

'प्रथम किरण' में सबसे प्रभावशाली वस्तु है अनुभूति की तीव्रता, सत्यता और गम्भीरता। अभिव्यक्ति में एक विशेप संयम और शिष्टता है। कविताओं में कवि की अनुभूतियों की सच्ची झलक पाई जाती है। प्रकृति-चित्रण की ओर तो कवि की विशेप प्रवृत्ति पाई गई है। जिस सुन्दरता से मानव-प्रकृति चित्रित की गई है वैसे ही जड़ प्रकृति भी। × × × यह संग्रह आधुनिक हिन्दी साहित्य में एक महत्वपूर्ण कृति समझा जायगा, ऐसा मेरा विश्वास है। ऐसे सुन्दर संग्रह के लिए मैं कवि का अभिनन्दन करता हूं।"

(३)

डॉ० सोमनाथ गुप्त एम० ए०, पी० एच० डी०, अध्यक्ष, हिन्दी-विभाग, जसवन्त कॉलिज, जोधपुर, लिखते हैं :—

"श्री रामेश्वर लाल खंडेलवाल 'तरुण' की रचनाएँ छायावादी युग की प्रतिनिधि होते हुए भी उसके दोषों से रहित हैं। उनकी कविता में अनुभूति की तीव्रता, सत्य और कल्पना के समन्वय का उद्योग, भाव और विचारों के सामञ्जस्य का प्रयत्न एवं व्यंजना की स्पष्टता है; उनकी भाषा में प्रवाह और छन्दो में गति है। वे अनावश्यक अनेक रूपता से बोझिल नहीं है।"

(४)

डॉ० रामानन्द तिवारी शास्त्री, एम० ए०, डी० फिल० (इलाहाबाद यूनिवर्सिटी) लिखते हैं :—

"हिन्दी के तरुण कवि श्री 'तरुण' जी की 'प्रथम किरण' उनके कवि के तारुण्य की प्रथम किरण है। उसमें अरुणोदय की मधुर ऊष्मा, शुचि स्फूर्ति और प्रकृत सजीवता है। 'प्रथम किरण' का स्वस्थ, शिष्ट और संयत काव्य आज के रुदन-बहुल, क्षीण-प्राण और असंयत अधिकांश काव्य से भिन्न दिशा की ओर संकेत है। आशा है, प्रेम, प्रकृति, राष्ट्रीयता, भक्ति, ज्ञान, रहस्य और साधना की यह सतरंगिणी 'प्रथम किरण' काव्यानुरागियों के मानस को अनुरंजित कर सकेगी। इस नवीन संकेत द्वारा 'प्रथम किरण' अपने 'तरुण' कवि के कवि-जीवन में एक उज्ज्वल प्रभात की अवतारणा कर हिन्दी-काव्य में भी एक नवीन प्रभात की सन्देश-वाहिका बन सके, यही मेरी कामना है।"

(५)

पं० विद्याधर शास्त्री, एम० ए०, अध्यक्ष, संस्कृत-विभाग डूंगर कालिज बीकानेर, लिखते हैं :—

"कविवर 'तरुण' का काव्य आधुनिक युग में प्रस्फुटित होकर भी अपनी अनुभूति, व्यापकता, कल्पना एवं सहृदयता के उल्लास में वैदिक युग की प्रतिभा का प्रकाशक है। कवि में आध्यात्मिकता की गति प्रयत्न साध्य नहीं अपितु स्वाभाविक है और कवि के अनेक पद इसके आन्तरिक आलोक का एक परम मनोहर शान्त प्रकाश प्रकाशित कर रहे हैं। × × × × वह पत्ते-पत्ते की हरकत और चेतन की प्रत्येक क्रिया में एक अलौकिक आनन्द का प्रस्फुटन अनुभूत कर उसका एक अपने अद्वितीय मधुर संगीत में गायन कर रहा है। कवि

की इस मौलिक अनुभूति पर मैं मुग्ध हूं और राजस्थान के वर्त्तमान कवियों में ही नहीं अपितु आधुनिक अनेक उत्कृष्ट भारतीय कवियों में मैं 'तरुण' के काव्य को एक उच्च श्रेणी का काव्य समझता हूं।"

(६)

हिन्दी के प्रसिद्ध साहित्यकार श्री शंभूदयाल सकसेना लिखते हैं :—

" 'तरुण' जी की कविताएं स्नेह और सहृदयता से भीगी हुई हैं। जीवन के पवित्र क्षणों की भावराशि का सुमृदु संचय करने के लिए कवि ने आत्म-चिन्तन किया है, आत्मा साधना की है। × × × × इन कविताओं को पढ़ने से हृदय का जो लगाव जीवन के प्रति प्रतीत होता है वैसा ही प्रकृति के प्रति भी लगता है। सुकुमार कल्पनाओं से रंजित प्रकृति चित्रण की यह तन्मयता बताती है कि प्रकृति के सामीप्य का कवि ने स्पर्श किया है और उसकी यह देन अपने युग की भूख को मिटाने के लिए स्वस्थ्य और पुष्टिकर भोजन है। × ×

इस युग के कविता-संग्रहों में यह एक अति श्रेष्ठ प्रयास होगा, ऐसा हमारा विश्वास है।"